हिन्दी त्रैमासिक

विवेक ज्योति

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम, रायपुर
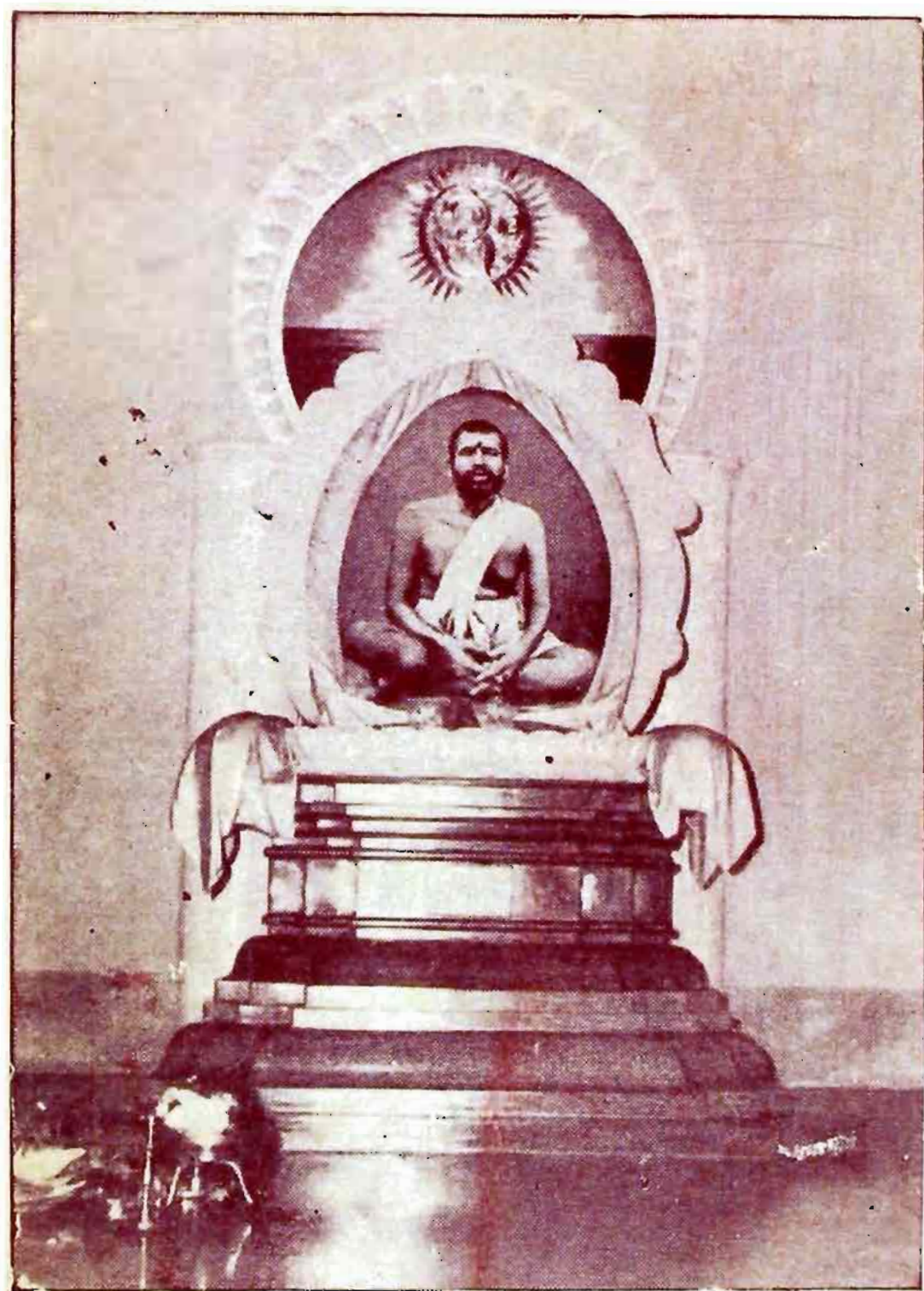
प्रस्तावित मंदिर का गर्भ-गृह

"मध्यप्रदेश शिक्षा विभाग के आदेश क्रमांक स / विधा / टा / ५६४
दिनांक ४ मार्च १९६४ द्वारा स्वीकृत"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण–विवेकानन्द–भावधारा से अनुप्राणित

अप्रैल - मई - जून १९६६

प्रधान सम्पादक एवं प्रकाशक
स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक • स्वामी प्रणवानन्द
सह-सम्पादक • सन्तोषकुमार झा

फोन : १०४६

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (मध्यप्रदेश)

अनुक्रमणिका

विषय | पृष्ठ

१. उसी सत्य के बहुविध नाम १२९

२. यह सत्य या वह (श्रीरामकृष्ण के चुटकुले) १३०

३. आध्यात्मिक जीवन की बाधाओं को दूर करने के उपाय (स्वामी प्रभवानन्द) १३३

४. रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द (वी. वी. गिरी) १५४

५. स्वामी अखण्डानन्द (डा. नरेन्द्रदेव वर्मा) १६३

६. विज्ञान और धर्म (स्वामी पवित्रानन्द) १७७

७. इमानुएल कान्ट (प्रा. रामेश्वर नन्द; १९८

८. मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प (शरद्चन्द्र पेंढारकर) २०९

९. अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द (प्रा. देवेन्द्रकुमार वर्मा) २१३

१०. अपरिचय का अवसान (सन्तोष कुमार झा) २२४

११. अथातो धर्मजिज्ञासा २३६

१२. लेखक परिचय २३८

१३. आश्रम समाचार २३९

१४. आश्रम की नवीन योजनाएँ २५१

कवर चित्र परिचय– स्वामी विवेकानन्द

(शिकागो में भाषण देते हुए, सितम्बर १८९३ ई.)

●

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(पंचम तालिका)

२९६. श्रीरामकृष्ण सारदापीठ, किला मैदान, इन्दौर
२९७. श्री कैलाशचन्द्र अग्रवाल, शीलनाथकैंप, इन्दौर-३
२९८. मेसर्स टेक्सटाइल्स क्लर्क्स एसोसियेशन, इन्दौर
२९९. श्री भोजराज हीरालाल, सदरबाजार, रायपुर
३००. श्री जगन्नाथ प्रसाद बृजभूषणलाल शुक्ला, बलौदाबाजार
३०१. श्री धनंजय पारखे, बूढ़ापारा, रायपुर
३०२ श्री नीरज गुप्ता, द्वारा श्रीमती उषा गुप्ता, पंचशील नगर, रायपुर
३०३. सेठ लक्ष्मीनारायण गनेड़ीवाल, मंदसौर
३०४. श्री जगदीश चन्द्र ऋषि, ऋषि कुटीर, बिलासपुर
३०५. श्री रामावतार अग्रवाल, जूनागढ़ (कालाहांडी)
३०६. श्री रमेश कुमार अग्रवाल, बड़ाबाजार, संबलपुर
३०७. श्री कौशल प्रसाद तिवारी, शिवरीनारायण
३०८. श्री अरविंद कुमार वाघ, ग्रेट ईस्टर्न रोड, रायपुर
३०९. डॉ. एन. एन. खेर, मक्शी रोड, उज्जैन
३१०. श्री फकीरसिंह चन्द्राकर, गांधी गोनकापार, दुर्ग
३११. डॉ. (कु.) सुदेश कक्कड़, कटोरातालाव, रायपुर
३१२. श्रीमती सावित्री घोष, श्यामनगर, रायपुर
३१३. प्राचार्य, शासकीय नूतन क. महाविद्यालय, इन्दौर
३१४. डॉ. रतनचन्द्र वर्मा, १२० धार रोड, इन्दौर
३१५. कल्याण आश्रम, जशपुर नगर

३१६. श्री रा. के. देशपांडे, एडवोकेट, जशपुरनगर
३१७. श्री वैद्यनाथ मिश्रा, जशपुर नगर
३१८. श्री ओमप्रकाश मिश्रा, ब्राह्मणपारा, रायपुर
३१९. श्री खेमराज लक्ष्मीचन्द, खरियार रोड (उड़ीसा)
३२०. प्राचार्य, जशपुर डिग्री कालेज, जशपुर
३२१. श्री ठाकुर दास जी शर्मा, प्राचार्य, जशपुर डिग्री कालेज, जशपुरनगर
३२२. मेसर्स रामदयाल उमरावलाल, गंजपारा, रायपुर
३२३. मे. एम. पी. मिल्स एंड इलेक्ट्रिक स्टोर्स, रायपुर
३२४. श्री हरिनारायण व्यास, विवेकानन्द नगर, रायपुर
३२५. श्री प्रेमचन्द जी डागा, खरियार रोड (उड़ीसा)
३२६. श्री धनजी मुरलीधर, राजनांदगांव
३२७. श्री मुंशीलाल अग्रवाल, बागबाहरा
३२८. सचिव, लक्ष्मीकुमारी सेवासमिति, जशपुर नगर
३२९. मंत्री, श्रमप्रतिष्ठान, इन्दौर, ३
३३०. श्री सूर्यदेव शर्मा, आर्य विहार, इन्दौर-१
३३१. रायसाहब नन्दकिशोर जायसवाल, जगदलपुर
३३२. अध्यक्ष, लायन्स क्लब, नन्दिनीमाइन्स, नन्दिनी
३३३. श्री मानिकचन्द अग्रवाल, जूनागढ़, कालाहांडी
३३४. प्राचार्या, कन्या कनिष्ठ महाविद्यालय, अलीराजपुर
३३५. श्री सुन्दरलाल कैलाशचन्द्र जैन, जशपुरनगर

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण - विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ७] अप्रैल – मई – जून [अंक २

वार्षिक शुल्क ४) ❀ १९६९ ❀ एक प्रति का १)

उसी सत्य के बहुविध नाम

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं आहुरथो
दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

— जिसे लोग इन्द्र, मित्र, वरुण कहते हैं, वही आकाश में सूर्य है और वही अग्नि, यम और मातरिश्वा है; सत्ता केवल एक है, उसी को ऋषिगण भिन्न भिन्न नामों से पुकारते हैं ।

— ऋग्वेद, १।१६४।४६

•

यह सत्य या वह ?

किसी गाँव में एक किसान-दम्पति रहते थे। जीवन सरल, सादा, निष्कपट। एड़ी से चोटी तक पसीना बहाकर परिश्रम करते और धरतीमाता फसल के रूप में जो भी उपहार प्रदान करती, उसी से सन्तोषपूर्वक जीवन बसर करते। रात्रि में ब्यालू के बाद भगवान् के भक्तिभरे गीत गाते और संसार की कल्याण-कामना करते हुए सो जाते। उनका जीवन शान्ति और सुख में बीतता रहा।

पर अचानक एक अभाव ने उस किसान-दम्पति को घेर लिया। उनके कोई सन्तान न थी। निपूती रह जाने की आशंका से किसान की पत्नी रह-रहकर काँप उठती। रात में अचानक उसकी आँखें खुल जातीं और पुत्र-प्राप्ति की कामना उसे बेचैन कर देती। कई मनौतियाँ उसने मान डालीं, मन्त्र-टोटके किये, देवी-देवताओं की पूजा की। और एक दिन परम सन्तोष के साथ किसान-दम्पति ने अनुभव किया कि आखिर बुढ़ापे में ही सही, पर भगवान् ने उनकी प्रार्थना सुन ली। किसान की घरवाली को गर्भ ठहर गया। दोनों बड़ी व्यग्रता के साथ आने वाले शिशु की प्रतीक्षा करते रहे। जिस दिन किसान-पत्नी ने एक सुन्दर बालक को जन्म दिया, उस दिन उनके आनन्द का क्या ठिकाना !

धीरे धीरे बच्चा बड़ा होने लगा। वह अपनी माँ की आँखों का तारा था, पिता का दुलारा था, पड़ोसियों का प्यारा था। माता क्षण भर के लिए भी उसे अपनी आँखों की ओट न होने देती। बच्चा तनिक भी अस्वस्थ हो जाये, तो माता विकल हो जाती और अपने पति को वैद्य-चिकित्सकों के पास भेज-भेजकर परेशान कर डालती।

एक दिन खेत में किसान को खबर मिली कि बच्चा जोर से बीमार है, वह अब-तब कर रहा है। घर लौट-कर किसान ने देखा कि बच्चा मर गया है और कोह-राम मचा हुआ है। पत्नी छाती पीट-पीटकर रो रही है और पड़ोस की लुगाइयाँ भी सुबक रही हैं। पर किसान की आँखों में पानी न आया। वह चुपचाप सारा माजरा देखता रहा। किसान-पत्नी पति की ऐसी निर्ममता को देखकर क्रुद्ध गयी और पड़ोसियों को सुना-सुनाकर कहने लगी, "देखो देखो, कैसे निर्मोही बने बैठे हैं! ऐसा चाँद-सा लड़का बिछुड़ गया, पर इनकी आँखों में एक बूँद पानी नहीं! बच्चे की ममता क्या जानें, खुद तो पेट में उसे रखा नहीं।" और यह कह, वह जोरों से ढाढ़ें मारकर रोने लगी।

कुछ समय बीतने पर किसान अपनी पत्नी से बोला, "जानतो हो, मैं क्यों नहीं रो रहा हूँ? बात असल में यह है कि कल रात को मैंने सपने में देखा था कि मैं राजा हो गया हूँ और मेरे सात लड़के हैं। सातों लड़के

रूप और गुण में एक दूसरे से बढ़कर हैं। धीरे धीरे वे सब बड़े हुए और पढ़-लिखकर राज-काज चलाने के लायक बने। उनमें जैसी विद्या, वैसी ही विनय और धर्मशीलता भी वैसी ही गहरी ! दूर दूर के राजा-महाराजा अपनी अपनी लड़की मेरे उन लड़कों के लिये देने राजी हैं ! और साथ में दहेज के रूप में राज-पाट ! मैं उन सबकी शादी की तैयारी कर ही रहा था कि मेरी नींद खुल गयी। तो, समझ नहीं पा रहा हूँ कि तुम्हारे इस एक लड़के के लिए रोऊँ या अपने उन सातों लड़के के लिए ? यही सोच रहा हूँ कि यह सत्य है या वह ?"

इस दृष्टान्त का सार यह है कि विवेकी व्यक्ति जाग्रत् अवस्था के इस विशाल संसार को स्वप्न में देखे गये संसार से तत्त्वतः भिन्न नहीं समझता और अपने इसी विवेक के कारण वह संसार के द्वन्द्वों में लिप्त नहीं हो पाता। जिसे यह विवेक सध गया है, वही सच्ची शान्ति और यथार्थ आनन्द का अधिकारी होता है।

●

अज्ञस्य दुःखौघमयं ज्ञस्यानन्दमयं जगत्।
अन्धं भुवनयन्धस्य प्रकाशं तु सुचक्षुषाम् ॥

– जैसे अन्धे के लिए जगत् अन्धकारमय है और अच्छी आँखोंवाले के लिए प्रकाशमय है, वैसे ही अज्ञानी के लिए जगत् दुःखों का समूहमय है और ज्ञानी के लिए आनन्दमय है।

— वराहोपनिषद्

आध्यात्मिक जीवन की बाधाओं को दूर करने के उपाय

स्वामी प्रभवानन्द

मनुष्य के दो सत्त्व हैं। इन्हें प्रतीयमान सत्त्व और यथार्थ सत्त्व कहा जाता है। प्रतीयमान सत्त्व को जीवात्मा या भोक्ता कहते हैं। यह जीवात्मा हर्ष और विषाद की अनुभूति करता है, इसी का जन्म और मृत्यु होती है तथा यही इस दृश्यमान जगत् का अनुभव और भोग करता है। यथार्थ सत्त्व को संस्कृत में आत्मा कहा गया है। आत्मा शुद्ध, बुद्ध, दिव्य, अजन्मा, अक्षर, अमर और चिरन्तन है। यह ब्रह्म ही है। उपनिषदों में आत्मा को 'सच्चिदानन्द' कहा गया है। आत्मा अस्तित्ववान् ही नहीं है अपितु अस्तित्व ही है। यह केवल जानता ही नहीं है अपितु यह साक्षात् ज्ञान ही है। यह आनन्दपूर्ण ही न होकर साक्षात् आनन्द ही है।

मुण्डक उपनिषद् (३।१।१-३) में हम पढ़ते हैं :

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो-
ऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-
मस्य महिमानमिति वीतशोकः ।।
यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ।।"

अर्थात्, "एक साथ रहने वाले तथा परस्पर सखा-भाव रखनेवाले दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही वृक्ष (शरीर) का आश्रय लेकर रहते हैं। उन दोनों में से एक तो उस वृक्ष के सुख-दुःखरूप फलों का स्वाद ले लेकर उपभोग करता है किन्तु दूसरा न खाता हुआ केवल देखता रहता है।

"शरीर रूपी उसी एक वृक्ष पर रहने वाला जीवात्मा शरीर की गहरी आसक्ति में डूवा रहने के कारण असमर्थतारूप दीनता का अनुभव करता है और परमात्मा के साथ अपनी एकता की विस्मृति से मोहित होकर शोक करता रहता है। पर जब वह (भगवान् की अहैतुकी दया से) परम उपास्य परमेश्वर को अपने से भिन्न न देख, अपनी ही आत्मा के रूप में देखता है और उनकी महिमा को प्रत्यक्ष कर लेता है, तब सर्वथा शोकरहित हो जाता है।

"जब यह द्रष्टा (जीवात्मा) सबके शासक, ब्रह्मा के भी आदिकारण, सम्पूर्ण जगत् के रचयिता, दिव्य प्रकाशस्वरूप परम पुरुष को प्रत्यक्ष कर लेता है, तब

वह पुण्य और पाप दोनों को भलीभाँति हटाकर निर्मल हो जाता है और परम साम्यता को प्राप्त कर लेता है।"

हमें भी उस दिव्य प्रकाशस्वरूप परम पुरुष को प्रत्यक्ष करना चाहिए, स्वयं को उससे संयुक्त करना चाहिए और अपने यथार्थ स्वरूप की–ईश्वरीय प्रकृति की–अनुभूति करनी चाहिए। इस अनुभूति को प्रत्यक्ष और अपरोक्ष होना चाहिए। अज्ञान जो हमारे ईश्वरीय स्वरूप का विस्मरण करा देता है और हमें जीवनरूपी वृक्ष के मीठे और कड़वे फलों को चखने के लिए बाध्य करता है, प्रत्यक्ष और अपरोक्ष होता है। जब यथार्थ सत्त्व अथवा आत्मा की समाधि-अवस्था में प्रत्यक्ष अनुभूति होती है तब इस अज्ञान का निराकरण होता है। समस्त जीवधारियों का लक्ष्य यही है।

आत्मा सदैव शुद्ध और निर्मल रहती है। भले ही कोई रत्न शताब्दियों से कीचड़ में दबा रहे पर उसकी कान्ति कभी नष्ट नहीं होती। तुम क्या हो, या तुम कैसे रहते हो, तुम्हारा जीवन साधु है या असाधु– इन बातों का तुम्हारे ईश्वरीय स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। तुम्हारी अन्तरात्मा में विराजमान भगवान् सदैव भगवान् ही बने रहते हैं। सन्त उसे कहते हैं जिसके माध्यम से भगवान् स्वयं को प्रकट या प्रकाशित कर देते हैं। पापी तब तक पापी बना रहता है जब तक उसके भीतर विद्यमान प्रभु प्रच्छन्न बने रहते हैं।

आस्कर वाइल्ड की एक प्रसिद्ध सूक्ति है– "सन्त और पापी के बीच केवल इतना अन्तर होता है कि प्रत्येक सन्त का एक भूतकाल होता है और प्रत्येक पापी का एक भविष्य ।"

विकास की प्रक्रिया के द्वारा हममें से प्रत्येक व्यक्ति एक न एक दिन अपने जन्मसिद्ध अधिकार के रूप में प्राप्त ईश्वरीय स्वरूप को अभिव्यक्त कर अमर आनन्द के पारावार में विलीन हो जायेगा । हिन्दू मनोवैज्ञानिक पतञ्जलि ने विकास के भारतीय सिद्धान्त की व्याख्या एक किसान के दृष्टान्त से की है जिसे अपने खेत को सींचने के लिए केवल जलाशय का दरवाजा ही खोलना होता है । उसे कहीं से पानी नहीं लाना होता । जल तो हमेशा वहाँ होता ही है तथा प्रकृति की गुरुत्वाकर्षण शक्ति से वह स्वतः ही खेतों में प्रवाहित होने लगता है ।

इस सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द को उद्धृत करें– "पूर्णता प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव है । पर यह पूर्णता अन्तर्बद्ध है तथा इसके प्रकाशन में अनेक बाधाएँ होती हैं । यदि कोई व्यक्ति इन अवरोधों को हटा दे तो उसमें पूर्णता तत्काल अभिव्यक्त हो जाती है ।" अतः पूर्णता कुछ विघ्नों के द्वारा अवरुद्ध रहती है । जब ज्ञान इन विघ्नों को नष्ट कर देता है तब ईश्वर प्रकट हो जाते हैं ।

'विघ्न' शब्द पर हमें विशेष रूप से ध्यान देना

चाहिए, क्योंकि इसके सम्बन्ध में हिन्दू और ईसाई विचारधाराओं में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। जिसे हिन्दू 'विघ्न' कहते हैं, उसे ईसाई 'पाप' कहेंगे। सामान्यतः एक ईसाई 'पाप' का अर्थ ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन या ईश्वर-द्रोह लगाता है। जगत् के स्रष्टा और पालक का जो रूप काल और देश के माध्यम से प्रकट होता है उसे ईसाई 'गॉड' कहता है और 'गॉड' का अर्थ उसके लिये 'परमपिता' होता है। हिन्दू इस परमतत्त्व को 'ईश्वर' कहते हैं। जब पतञ्जलि 'विघ्न' की चर्चा करते हैं तब वे विघ्नों से उत्पन्न होने वाले निषेधात्मक प्रभाव को स्पष्ट करते हैं। उनके मतानुसार 'विघ्न' अज्ञान के वे काले बादल हैं जो फैलकर हमारी अन्तर्निहित आत्मा के प्रकाश को प्रच्छन्न कर देते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि ईसाई विचारधारा ईश्वर को हमसे विलग मानती है और ऐसे ईश्वर के विरुद्ध किये गये अपराधों की मान्यता पर जोर देती है; किन्तु हिन्दू विचारधारा हमारी अपनी सच्ची प्रकृति के विरुद्ध किये गये कार्यों को अपराध समझती है। हमारी यह सच्ची प्रकृति आत्मा ही है।

उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों में भेद मौलिक नहीं है, पर महत्त्वपूर्ण है। ईसाई दृष्टिकोण का महत्त्व यह है कि वह पाप को हमारे सर्जनहार, परमपिता परमेश्वर से सम्बद्ध कर देता है और इस प्रकार पाप की महत्ता और विशालता सम्बन्धी हमारी कल्पना को सतेज कर

देता है। हिन्दू दृष्टिकोण की महत्ता यह है कि वह पाप के अन्तिम रूप से प्राप्त होने वाले परिणाम को हमारे सामने रखता है और कहता है कि अपने भीतर की यथार्थ सत्ता से भिन्नता का बोध ही पाप का अन्तिम परिणाम है।

(२)

आइये, अब हम यह विचार करें कि ये विघ्न क्या हैं। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं– "अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।" अर्थात् अविद्या, अस्मिता (अहंकार), राग, द्वेष और अभिनिवेश (जीवन के प्रति ममता)– ये पाँचों क्लेश हैं। वे आगे बताते हैं – "अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।" अर्थात अनित्य, अपवित्र, दुःखकर और आत्मा से भिन्न पदार्थ में नित्य, पवित्र, सुखकर और आत्मा की प्रतीति अविद्या है।

आत्मा के सच्चे स्वरूप को प्रच्छन्न करने वाली अविद्या या अज्ञान सार्वभौमिक है। कोई व्यक्ति भले ही बुद्धिजीवी हो, या समस्त शास्त्रों का ज्ञाता हो पर जब तक वह आत्मा की अनुभूति नहीं करता, अर्थात् जब तक वह ब्रह्मविद् नहीं बनता तब तक वह अज्ञानी ही रहेगा।

अज्ञान ही अन्य विघ्नों को उत्पन्न करता है। अज्ञान का प्रमुख कार्य है स्वयं चैतन्यस्वरूप आत्मा को उस शरीर, मन के साथ तदाकार कर देना, जो चैतन्य को

प्रतिबिम्बित मात्र करता है। इस प्रकार अहंकार या जीवात्मा अथवा भोक्ता की भावना उत्पन्न होती है।

केन उपनिषद् में शिष्य गुरु से प्रश्न करता है—

"केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः
प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ
देवो युनक्ति।"

—अर्थात् "किसके द्वारा इच्छित होकर और संचालित होकर मन अपने विषयों से युक्त होता है? किसके द्वारा नियुक्त होकर सबसे प्रधान प्राण चलता है? किसके द्वारा इच्छित होकर मनुष्य इस वाणी को बोलते हैं? और कौन प्रसिद्ध देव नेत्रेन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय को अपने अपने विषयों के अनुभव में लगाता है?"

इस प्रश्न के उत्तर में गुरु कहते हैं—

"श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचँ
स उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता
भवन्ति॥"

—अर्थात् "जो मन का मन है, प्राण का प्राण है, वागेन्द्रिय की वाक् है, श्रोत्रेन्द्रिय का श्रोत्र है और चक्षुरेन्द्रिय का चक्षु है, वह ही इन सबका प्रेरक परमात्मा है। ज्ञानीजन उसे जानकर शरीर के प्रति आत्मभाव को त्यागकर इस लोक से जाने के बाद अमर हो जाते हैं।"

चेतना की समस्या को लेकर पाश्चात्य दर्शन में जड़वाद और आदर्शवाद की दो विचार-सरणियों का जन्म हुआ है। जड़वादी के अनुसार चेतना विकास-क्रम की एक उत्पत्ति है। जब कुछ शर्तें पूरी होती हैं तब चेतना का उदय होता है और जब ये शर्तें खत्म होती हैं तब चेतना भी नष्ट हो जाती है। आजकल जड़वादी विचारधारा को यथार्थतः मानने वाले बहुत थोड़े लोग हैं।

आदर्शवादी यह विश्वास करते हैं कि चेतना मन का एक गुण है। यदि हम इस स्थापना को सत्य मानें तो हम यह पूछ सकते हैं कि फिर मन कभी अचेतन कैसे हो सकता है? अग्नि का गुण उसकी दाहिकाशक्ति है। जब दाहिकाशक्ति समाप्त हो जाती है तब अग्नि भी नहीं रह जाती। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि जब मन की चेतना समाप्त होती है तब उसका अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है। अतएव चेतना मन का गुण नहीं हो सकती।

आधुनिक वैज्ञानिक इन दोनों धारणाओं को अस्वीकार करते प्रतीत होते हैं और यह मानते हैं कि चेतना समग्र विश्व में व्याप्त है, भले ही वैज्ञानिक साधनों से उसकी व्याप्ति का बोध न कराया जा सके। इस सम्बन्ध में वे वेदान्त के दृष्टिकोण के सन्निकट आते हैं। वेदान्त यह प्रतिपादित करता है कि आत्मा स्वयं विशुद्ध चैतन्यस्वरूप है, वह ब्रह्म ही है। पहले कहा जा चुका है कि आत्मा को 'चेतना को प्रकाशित करने वाले'

शरीर और मन से तदाकार करने से अहंकार या जीवात्मा का जन्म होता है। यह अविद्या का एक प्रमुख कार्य है।

हमें आत्मा के इस मिथ्या तादात्म्य को नष्ट करना है और यह अनुभव करना है कि आत्मा ब्रह्म ही है। यही परम लक्ष्य है।

ब्रह्म के साथ युक्त होने के लिये यद्यपि अहं की चेतना को लाँघना निश्चित रूप से आवश्यक है तथापि इसे बहुधा गलत समझ लिया जाता है। स्वयं से अहं की भावना को निकालना इतना सरल नहीं है। जब व्यक्ति समाधि में आत्मा की ब्रह्म के रूप में प्रत्यक्ष, अपरोक्ष अनुभूति करता है तभी अहं का नाश होता है। फिर, जब व्यक्ति समाधि से सामान्य बोध के स्तर पर वापस लौटता है तब उसमें अहंभाव का पुनः जागरण होता है। पर जैसे जली हुई रस्सी बाँध नहीं सकती उसी प्रकार इस अहंभाव का आभासमात्र ही बाकी रहता है।

जो हो, हमारे लिए अहंभाव का प्रयोजन इसलिए है कि हम उसे लाँघ सकें। यदि अहंकार न हो तो ब्रह्म के साथ युक्त होने के लिये कौन संघर्ष करेगा? श्री रामकृष्ण कहा करते थे कि अहं दो प्रकार के होते हैं– पक्का अहं और कच्चा अहं। पहला ज्ञान का अहंकार है। इस अहंकार को रखकर व्यक्ति स्वयं को भगवान् का पुत्र, भगवान् का भक्त तथा भगवान् को प्राप्त करने

के लिए संघर्ष करने वाला आध्यात्मिक साधक समझता है। कच्चा अहं अहंकारी व्यक्ति का थोथा और स्वार्थ-पूर्ण अहंकार है जो उसे बृहत्तर अज्ञान और बृहत्तर बन्धनों में बाँध लेता है। यह कच्चा अहं ही राग, द्वेष और अभिनिवेश जैसे विघ्नों का कारण है।

आध्यात्मिक साधकों को इस संसार की वस्तुओं से प्रेम नहीं करना चाहिये अथवा उनमें आसक्त नहीं होना चाहिये। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि "लोग ईश्वर की सृष्टि को लेकर ही व्यस्त हैं। इनमें से भला कितने लोग स्रष्टा को जानना चाहते हैं?" इस सन्दर्भ में हम सेन्ट जान आफ दि क्रास को उद्धृत करें – "आत्मा अपनी ही शक्ति पर निर्भर रहकर, अपनी आदत और रुचि के द्वारा संसार की वस्तुओं से दूर हटने का जितना उपाय करती है, वह ईश्वर-प्राप्ति के पथ पर उतना ही कम बढ़ पाती है। इसका कारण यह है कि वह स्वयं को ईश्वर के हाथों में पूरी तरह समर्पित नहीं करती जो उसे अलौकिक रूप से परिवर्तित कर सकता है।" जर्मन रहस्यवादी सन्त जैकब बोमे लिखते हैं– "सबसे अधिक तुम्हारे स्वयं के विचार, श्रवण और दर्शन ही तुम्हें उससे दूर रखते हैं और इस अलौकिक स्थिति को प्राप्त करने में तुम्हारे लिये बाधक बनते हैं। इसका कारण यह है कि तुम स्वयं इसके विरोध में इतना प्रयत्न करते हो कि फलस्वरूप तुम स्वयं पतित और हीन हो जाते हो, क्योंकि तुमने स्वयं अपनी इच्छा को ईश्वरीय इच्छा से

विलग कर लिया है और स्वयं की दृष्टि को ईश्वर की दृष्टि से अलग कर दिया है।"

अभिनिवेश या जीवन के प्रति ममता समस्त बाधाओं में सूक्ष्मतम है। इसका अनुभव सभी आध्यात्मिक साधक करते हैं। यह सहज और सार्वभौमिक है; यह 'मृत्यु का भय' ही है।

जो लोग आध्यात्मिक साधक हैं तथा जो कुछ समय से ध्यान का अभ्यास कर रहे हैं, वे कुछ देर के लिए ऐसी अवस्था अवश्य प्राप्त करते हैं जब मन लीन हो जाता है और उसकी चेतना नष्ट हो जाती है। पर वे बहुधा डर जाते हैं और गहरे ध्यान में लीन होनें में हिचकिचाते हैं। किन्तु भगवान् की कृपा से उनका मन बलपूर्वक दैवी चुम्बक की ओर खिंचता जाता है और वे उनके दर्शन से कृतकृत्य हो उठते हैं। कभी-कभी ईश्वर की कृपा साधक पर बिजली के समान गिरती है और वह मृत्यु के समान भय का अनुभव करता है। पर क्षणमात्र में ही यह भय जाता रहता है और साधक दिव्यानन्द में लीन हो जाता है।

(३)

यद्यपि विश्व के सभी प्रबुद्ध देवमानवों और सन्तों ने हमें स्वयं को इस सतही जीवन से विलग करने की आवश्यकता का उपदेश एक स्वर से दिया है क्योंकि हम सबमें एक गहनतर जीवन विद्यमान है, तथापि धर्मगुरुओं ने वेदान्त तथा अन्य प्राच्य धर्मों को 'जीवन-

विरोधी' कहा है। और वे अपने धर्म को 'जीवनपोषक' समझते हैं। पर वे स्वयं अपने पैगम्बर की बात भूल गये हैं। क्या उनके मसीहा ने यह नहीं कहा कि "जिसने इस जीवन से प्रेम किया है वह इसे खो देगा ?" क्या यह भी नहीं कहा कि "यदि मनुष्य संसार से प्रेम करता है तो उसे पिता का प्रेम नहीं मिलेगा ?"

हमारे सामने समस्या यह है कि हम इन विघ्नों को कैसे जीतें ? जिस विधि से यह कार्य सम्पन्न होगा उसकी तुलना गन्दे कपड़े को साफ करने की विधि से की जा सकती है। पहले कपड़े में साबुन लगाकर मैल को अलग करना होगा और फिर उसे साफ पानी से धोना होगा। मन भी गन्दे कपड़े के समान है जिसमें भूत काल के कार्यों और विचारों के संस्कारों की मैल जमी हुई है। हमें इसमें साबुन लगाना होगा अर्थात् हमें मन की गन्दगी को दूर करने के लिये कतिपय साधनाओं का अभ्यास करना होगा। इसके बाद उसे स्वच्छ जल से --ध्यान के अभ्यास से और ईश्वर-चिन्तन से – धोना होगा।

"पवित्रहृदय व्यक्ति धन्य हैं क्योंकि वे ईश्वर को देखेंगे।" यही धर्म का पूरा सार है। ध्यान के अभ्यास का तथा अन्य समस्त आध्यात्मिक साधनाओं का लक्ष्य मन को पवित्र बनाना है ताकि ईश्वर हृदय के गर्भगृह में प्रकट हो सकें।

तो ये साधनाएँ कौन सी हैं? महर्षि पतञ्जलि कहते

हैं– "तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः"। अर्थात् तपस्या, अध्यात्मशास्त्रों के पठन-पाठन और ईश्वर में समस्त कर्मफलों के समर्पण को क्रियायोग कहते हैं।

अंग्रेजी के 'Austerity' (तितिक्षा) शब्द में एक निषेधात्मक ध्वनि निहित है। सामान्यतः इसका अर्थ या भ्रामक अर्थ 'देहदण्डन' माना जाता है और यदाकदा इसे 'आत्मपीड़न' की वामाचारी धारणा के समकक्ष भी रख दिया जाता है। कुछ सम्प्रदाय के व्यक्तियों में यह भ्रामक विचार भी फैल गया है कि अत्यधिक उपवास और देह-दण्डन से ही रहस्यवादी अनुभूतियाँ अवश्य उदित होती हैं, पर ये प्रमाद की स्थिति में अनुभूत भ्रम और व्यामोह ही होते हैं। ईश्वर के दर्शन के लिए स्वस्थ शरीर में एक स्वस्थ मन की आवश्यकता होती है। उपनिषद् कहते हैं:–

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो
न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वां–
स्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम॥"

अर्थात् "यह परमात्मा बलहीन मनुष्य द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता तथा प्रमाद से अथवा विवेक रहित तप से भी नहीं पाया जा सकता। किन्तु जो बुद्धिमान् साधक इन उपायों के द्वारा प्रयत्न करता है उसकी आत्मा ब्रह्मधाम में प्रविष्ट हो जाती है।" भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने भी ध्यान का उपदेश दिया है:–

"नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमलश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ।।
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।।"

अर्थात् "हे अर्जुन, यह योग न तो बहुत खाने वाले का सिद्ध होता है और न बिल्कुल न खाने वाले का, तथा न अति शयन करने के स्वभाव वाले का और न अत्यन्त जागने वाले का ही सिद्ध होता है। दुःखों का नाश करने वाला योग तो यथायोग्य आहार और विहार करने वाले का तथा कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वाले का और यथायोग्य शयन करने तथा जागने वाले का ही सिद्ध होता है।"

(४)

अंग्रेजी शब्द 'Austerity' के अर्थ को नजदीक से व्यक्त करने वाला संस्कृत शब्द है 'तपस्'। 'तपस्' का मूल अर्थ है– 'जो उष्मा या शक्ति उत्पन्न करे'। तपस् वह अभ्यास है जिससे शक्ति का संग्रह किया जाता है और उसे ब्रह्मप्राप्ति के लिये नियोजित किया जाता है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये हमें आत्मनिग्रह का अभ्यास करना चाहिये, हमें अपनी दैहिक भूखों और आवेगों को नियंत्रित करना चाहिये।

गीता में श्रीकृष्ण ने तपस् के तीन प्रकार बताये हैं:-

"देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।।"

—अर्थात् "देवता, ऋषि, गुरु और ज्ञानी जनों का पूजन एवं पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा— यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है।"

"अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्य प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥"

—अर्थात् "उद्वेग को न करनेवाला, प्रिय, हितकारक एवं यथार्थ भाषण तथा स्वाध्याय और अभ्यास—वाणी सम्बन्धी तप कहा जाता है।"

"मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥

—अर्थात् "मन की प्रसन्नता और शान्तभाव एवं भगवत्-चिन्तन करने का स्वभाव, मन का निग्रह और अन्तःकरण की पवित्रता—यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है।

यहाँ 'स्वाध्याय' का अर्थ शास्त्र तथा आध्यात्मिक जीवन से सम्बद्ध ग्रंथों का नियमित पाठ है। इसका अर्थ नियमपूर्वक जप करना अर्थात् ईश्वर के पवित्र नाम का उच्चारण करना और प्रार्थना करना भी है।

हिन्दू शास्त्र में हम यह वाक्यांश पाते हैं— 'उनके नाम की शरण लेना'। 'दि बुक ऑफ प्रावर्ब्ज' में हम पढ़ते हैं— " ईश्वर का नाम एक ऐसी दृढ़ अट्टालिका है जहाँ साधुजन दौड़ कर पहुँचते हैं और सुरक्षित रहते हैं।" ईश्वर के नाम का जप उसके अर्थ के चिन्तन के साथ युक्त होना चाहिये। एक प्रक्रिया स्वभावतः दूसरी की सहगामिनी होती है। यदि हम

अपने जप को निष्ठापूर्वक करें तो वह हमें निश्चित रूप से ध्यानस्थ भी कर देगा।

अन्तिम बात है अपने कर्मफल को ईश्वर को समर्पित्र करना। इसे 'कर्मयोग' के नाम से जाना जाता है। यह ईश्वरसमर्पित कर्म के द्वारा ईश्वर को पाने का पथ है। जब प्रत्येक कर्म ईश्वर की पूजा के रूप में किया जाता है तब साधक का सम्पूण जीवन एक अविराम उपासना में परिवर्तित हो जाता है। गीता भगवती कहती है :–

"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तापस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥"

–अर्थात् "हे अर्जुन, तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है, जो कुछ स्वधर्माचरण रूप तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर।"

(५)

ईश्वर का पथ सूक्ष्म दर्शन या जटिल धर्मवाद का पन्थ नहीं है। यह आत्मसमर्पण का पथ है– प्रत्येक स्तर पर अपने आपको ईश्वर के प्रति समर्पित करने का मार्ग है।

जिस प्रकार तुम नियम और अनुशासन का पालन करते हो, उसी प्रकार तुम्हें नियमित रूप से ध्यान का अभ्यास भी करना चाहिये। ध्यान क्या है यह बताने के पहले हम यह देखेंगे कि साधक किस प्रकार आत्माभि-

व्यक्ति के विविध सोपानों को पार करता है।

सबसे पहले वह जिज्ञासु बनता है। जैसे-जैसे वह ईश्वर को खोजना चाहता है, जैसे-जैसे उसके मन में मुक्ति की इच्छा जागती है, वह गुरु की शरण में जाता है जिन्होंने स्वयं ईश्वर का दर्शन किया है तथा जो शिष्य को उसे पाने का मार्ग दिखा सकते हैं। वह फिर गुरु के द्वारा सिखायी गयी साधनाओं को करता है। अब वह एक साधक है।

जब साधक साधनाओं से जूझता है तब अनेक विघ्न उत्पन्न होते हैं। पतञ्जलि के अनुसार– "व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तराया।" अर्थात्, "रोग, मानसिक जड़ता, उद्यमशून्यता, आलस्य, विषयतृष्णा, मिथ्या-अनुभव, एकाग्रता न पाना, और पाने पर भी उससे च्युत हो जाना– ये जो चित्त के विक्षेप हैं वे ही विघ्न हैं।

ये विपर्यय इसलिए उत्पन्न होते हैं कि शरीर और मन इस प्रकार के नियमों को सहने के अभ्यस्त नहीं होते। हममें से प्रत्येक व्यक्ति में दो प्रकार की तरंगे प्रवाहित होती रहती हैं। एक तो सतही तरंग है जो सुख की ओर–इन्द्रिय-भोग की ओर प्रवाहित हो रही है, जिसे आधुनिक मनोवैज्ञानिक 'जीने की इच्छा' कहते हैं, और एक दूसरी तरंग इसकी विपरीत दिशा में प्रवाहित हो रही है। यह आन्तरिक संयम की इच्छा है,

मुक्ति की इच्छा है; संक्षेप में वह ईश्वर से मिलने की इच्छा है जिसे 'मृत्यु की इच्छा' कहा जा सकता है।

यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति में ये दोनों तरंगे विद्यमान हैं पर केवल आध्यात्मिक साधक ही अपनी अन्तर्धारा से परिचित हो सकते हैं। वे अनन्त को पाना चाहते हैं क्योंकि वे भलीभाँति जानते हैं कि सान्त में वास्तविक आनन्द नहीं होता। पर पुरानी आदतें सरलता से नहीं छूटतीं। अत: वहाँ प्रत्यावर्तन होगा, संघर्ष की घड़ियाँ आएँगी, नीरसता का बोध होगा और सन्देह का काल आयेगा। पर साधक को इस सबसे अधिक चिन्तित नहीं होना चाहिये। ऊपरी चेतना को कितना ही ऊर्ध्वमुखी क्यों न बना लिया जाये पर केवल वही आध्यात्मिक विकास का चिह्न नहीं है। हम ऐसे समय जबकि हमारा मन उदास और निष्क्रिय सा दिखायी देता हो, सम्भव है, दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ रहे होवें। जब कभी हम शिकायत करते थे कि हम आध्यात्मिक रूप से प्रगति नहीं कर पा रहे हैं तब हमारे गुरुदेव हमें निरन्तर अभ्यास करते रहने का उपदेश देते थे और प्रमाद के फन्दे से बचे रहने के लिए कहते थे। वास्तव में यदि हम संघर्ष करते रहें तो आध्यात्मिक जीवन में किसी प्रकार की असफलता नहीं आ सकेगी।

साधनाओं का अभ्यास करो, संघर्ष करो। इससे हृदय पवित्र हो जायेगा। हम पहले कह चुके हैं कि समस्त आध्यात्मिक साधनाओं और संघर्षों का प्रधान उद्देश्य

हृदय की शुद्धि करना है। कठ उपनिषद् में हम पढ़ते हैं:-

"नविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥"

–अर्थात्, "सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा भी इस परमात्मा को मनुष्य नहीं प्राप्त कर सकता यदि वह अशान्त है, यदि उसकी मन-इन्द्रियाँ संयत नहीं हैं, यदि उसका मन समाहित नहीं है।" केवल शुद्ध हृदय से ही ब्रह्म की प्राप्ति होती है। मुण्डक उपनिषद् में आता है :–

"मनोमयः प्राणशरीरनेता
प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा
आनन्दरूपममृतं यद् विभाति ॥"

–अर्थात्, "सम्पूर्ण प्राणियों के प्राण और शरीर का नियमन करने वाला यह परमेश्वर मन में व्याप्त होने के कारण मनोमय कहलाता है और सब प्राणियों के हृदय-कमल का आश्रय लेकर अन्नमय स्थूल शरीर में प्रतिष्ठित है। बुद्धिमान मनुष्य ध्यान के विज्ञान द्वारा उस परब्रह्म को भलीभाँति प्रत्यक्ष कर लेते हैं जो आनन्दमय और अविनाशी रूप से सर्वत्र प्रकाशित है।"

मैं हृदय की पवित्रता की परिभाषा मन की उस प्रवृत्ति के रूप में करता हूँ जो स्वतःस्फूर्त होकर ईश्वर की ओर प्रवाहित होती है। इस स्वतःस्फूर्ति के उदय के लिये हमें ईश्वर के स्मरण का अभ्यास जितना अधिक हो सके करना चाहिये। मेरे गुरुदेव इस अभ्यास को

'सहज योग' अर्थात् ब्रह्म के साथ सहज संयोग कहा करते थे। ईश्वर की स्मृति को निरन्तर बनाये रखने की सर्वाधिक प्रभावी विधि है – गुरु से प्राप्त भगवान् के पुनीत नाम का निरन्तर जाप करना।

इस प्रकार की साधना से साधक भगवान् को जीवन्त उपस्थिति का अनुभव करने लगता है। उसे यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि भगवान् हैं। यद्यपि उनका दर्शन उसे प्राप्त नहीं हुआ है तथापि उनके अस्तित्व के सम्बन्ध में उसे कोई सन्देह नहीं रह जाता और वह अपने हृदय के गर्भगृह में उनकी जीवन्त उपस्थिति का अनुभव करता है। जीवन्त उपस्थिति की इस अनुभूति में एक अपूर्व रस और एक अलौकिक आनन्द होता है। वास्तविक रूप से वह तभी ध्यान के सोपान पर पहुँचता है। यह ध्यान उसे ब्रह्म की प्रत्यक्ष अनुभूति तक ले जाता है। ध्यान की इस स्थिति का वर्णन भगवद्गीता में इस प्रकार किया गया है :–

"यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।।"

"जिस प्रकार वायुरहित स्थान में स्थित दीपक की लौ चलायमान नहीं होती, वैसी ही उपमा परमात्मा के ध्यान में लगे हुए योगी के जीते हुए चित्त की कही गयी।" अन्त में,

"यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥"

–अर्थात्, "जिस अवस्था में योग के अभ्यास से निरुद्ध हुआ चित्त उपराम हो जाता है और जिस अवस्था में परमेश्वर के ध्यान से शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा परमात्मा को साक्षात् करता हुआ सच्चिदानन्द घन परमात्मा में ही सन्तुष्ट हो जाता है; इन्द्रियों से अतीत केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है उसको जिस अवस्था में अनुभव करता है और जिस अवस्था में स्थित हुआ यह योगी भगवत्स्वरूप से चलायमान नहीं होता"– उसे योग कहा गया है।

•

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥

अर्थात् इस शरीर के भीतर हृदय में विराजमान प्रकाश-स्वरूप और परमविशुद्ध परमात्मा सत्यभाषण, तप, ब्रह्मचर्य और यथार्थ ज्ञान से ही निःसंदेह प्राप्त होता है। इस परमात्मा को सब प्रकार के दोषों से रहित यत्नशील साधक ही देख पाते हैं।

– महर्षि अंगिरा

रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द

वी. वी गिरि

यह मेरा सौभाग्य है कि आज श्रीरामकृष्ण परमहंस देव के १३४ वें जन्म दिवस के उपलक्ष में उनके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि समर्पित करने हेतु यहाँ उपस्थित हूँ। श्रीरामकृष्ण भारत के एक महान् सत्यद्रष्टा ऋषि थे। जिनका प्रभाव केवल हमारी मातृभूमि की सीमा में ही आबद्ध नहीं है, बल्कि जिनका सन्देश देश की सीमा को लाँघकर सर्वत्र बिखर गया है। उनका दर्शन किसी सम्प्रदाय या धर्म के तंग दायरे में बँधा हुआ नहीं है। इस शताब्दी के चौथे दशक में जब मैं जेल में था, तब श्रीरामकृष्ण परमहंस के सम्बन्ध में कुछ पुस्तकें मैंने पढ़ी थीं। कुछ समय पूर्व स्वामी विवेकानन्द के ग्रन्थ भी देखने को मिले और इनके सहारे इन दोनों महापुरुषों के प्रमुख सिद्धान्तों और उपदेशों को कुछ-कुछ समझने का मौका मिला। श्रीरामकृष्ण की जिस बात ने मुझे अत्यन्त प्रभावित किया वह थी जीवन की समस्याओं को देखने की उनकी सहजता। उनका दर्शन इतना सरल है कि एक साधारण व्यक्ति भी, जो धर्म की समस्याओं को बौद्धिक दृष्टि से देखना नहीं जानता जो दार्शनिक जटिलताओं और सूक्ष्मताओं से परिचित नहीं है, सहज ही समझ ले सकता है। श्रीरामकृष्ण के उपदेशों के सार को मैं यदि एक शब्द में व्यक्त करूँ तो वह होगा– 'मानवतावाद', और इसी ने स्वाभाविक रूप

से मुझे उनके उपदेशों के प्रति आकृष्ट किया है। जो कुछ उन्होंने कहा वह आज भी सार्थक है जितना कि वह तब था जब कहा गया था, और मुझे इसमें तनिक भी शंका नहीं है कि वह आनेवाले युगों तक मानवजाति को अनुप्राणित करता रहेगा। उनके दृष्टान्त और चुटकुले लोगों के दैनन्दिन जीवन पर आधारित हैं और वे इतने सरल हैं कि उनके माध्यम से अभिव्यक्त उच्चतम सत्य को भी साधारण से साधारण आदमी समझ ले सकता है।

वास्तव में, श्रीरामकृष्ण परमहंस सत्यदृष्टा ऋषि थे। वे अनाज को भूसे से अलग कर सकते थे। नीर-क्षीर-विवेक उनके लिए सहज साध्य था। समस्त दर्शनों के सार तत्व को वे कतिपय सरल शब्दों में निचोड़कर रख देते थे। उनकी कथनी और करनी में फर्क नहीं था; वे उसी का उपदेश करते जो वे स्वयं अपने जीवन में उतार चुके थे। वे जो कुछ कहते, उसे अपने जीवन में उतार लेते। इसीलिए उनके बहुत से अनुयायी और भक्त हुए। वे अनन्त धर्म-भावों के जीवन्त विग्रह थे। उन्होंने जिस संन्यासी-संघ की प्रतिष्ठा की, उसकी दृष्टि को बड़ा व्यापक और उदार बनाया। यही कारण है कि जब दूसरे बहुत से धार्मिक आन्दोलन अपनी साम्प्र-दायिकता के कारण पूरे परिमाण में सफल नहीं हो पाये, यह रामकृष्ण मिशन अपनी स्वस्थ सार्वभौमिकता के कारण, केवल हमारे ही देश में नहीं, वरन् विश्व में

सर्वत्र फैलता जा रहा है। सचमुच श्रीरामकृष्ण एक अद्भुत बागवान थे। जिन्होंने तरह-तरह के रंग और सुगन्ध बिखेरने वाले भाँति-भाँति के फूलों को लेकर एक सुन्दर गुलदस्ता तैयार किया।

श्रीरामकृष्ण का जीवन और उपदेश आज के विस्फोटक युग में, जहाँ अलगाव और तनाव का सर्वत्र बोलबाला है, संगठनकारी विरल शक्तियों में से है। उनके ओठों से दैवी शक्ति से भरे जो शब्द निकले, वे आज माता धरित्री के कोने-कोने में गुंजायमान होते हुए लोगों के हृदय तक पहुँच रहे हैं। उनके उपदेश देश और काल की सीमा को लाँघकर सभी देशों के, सभी पंथों के लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं, क्योंकि वे उपदेश अपरोक्ष हैं, सार्वभौम हैं। श्रीरामकृष्ण आध्यात्मिक चेतना और गरिमा के स्रोत थे। उन्होंने 'भव-मुक्त' की अवस्था प्राप्त कर ली थी। इस अवस्था में मन ब्रह्म के निरपेक्ष और सापेक्ष दोनों रूपों में सदैव निमग्न रहा करता है, तथा ब्रह्म के साथ अपने इस ऐक्य में बिना किसी प्रकार का विचलन उत्पन्न किये जीवन के लौकिक व्यापारों में भी सक्रियतापूर्वक लगा रह सकता है। श्रीरामकृष्ण आत्मिक आनन्द, बुद्धि की समता और दिव्य सुख में प्रतिष्ठित हो चुके थे।

महात्मा गाँधी ने श्रीरामकृष्ण की महानता को प्रकट करते हुए लिखा है, "श्रीरामकृष्ण का जीवन-चरित्र धर्म के आचरण का एक अध्ययन है। उनका

जीवन हमें ईश्वर को प्रत्यक्ष देखने में समर्थ बनाता है।" सचमुच में, श्रीरामकृष्ण सभी धर्मों के मूर्तस्वरूप थे। अपनी अविराम तपस्या, प्रबल उत्साह, तीक्ष्ण बुद्धि और आध्यात्मिक जगत् में गहरी अन्तर्दृष्टि के कारण श्रीरामकृष्ण ने लोगों के हृदय में सदा के लिए अपना स्थान बना लिया है। उनकी वाणी और क्रियाएँ यह प्रकट करती हैं कि वे कितने बड़े आध्यात्मिक दिग्गज हैं। वे अपने पीछे अपना मानव-कल्याण का कार्य पूर्ण करने के लिए अनुगत शिष्यों का एक दल छोड़ गये। १८८६ ई. में उनकी महासमाधि के उपरान्त, स्वामी विवेकानन्द के नेतृत्व में उनके अन्तरंग शिष्यों ने उनके नाम पर एक संन्यासी-संघ की प्रतिष्ठा की। इस संघ ने प्रारम्भ से ही दो प्रकार के कार्यों का संचालन किया – एक तो वेदान्त का प्रचार और दूसरे, जाति, पन्थ या वर्ण के भेदभाव के बिना समाज का कल्याण।

श्रीरामकृष्ण की सबसे बड़ी देन तो यह थी कि उन्होंने युवा नरेन्द्रनाथ को अपने प्रमुख शिष्य के रूप में आकर्षित किया। नरेन्द्रनाथ संन्यास ग्रहण कर स्वामी विवेकानन्द बने और उन्होंने केवल हिन्दू धर्म की ही यशोध्वजा नहीं फहरायी वरन् समूचे भारत का नाम उजागर कर दिया। श्रीरामकृष्ण के विचारों की अपूर्व उदारता, हर धर्म में जीवन को उदात्त बनाने वाले तत्त्वों को देख लेने की उनकी दक्षता, उनकी तीव्र धर्म-प्रवणता और भाव समाधि में व्यक्त उनकी गहरी

आध्यात्मिक पैठ मानो जादू के से स्पर्श द्वारा नरेन्द्रनाथ में संचारित कर दी गयी और बदले में उस तरुण शिष्य ने भारतवासियों को गहरी नींद से उठाने का, तथा उनके भय को दूर कर, साहस और विश्वासपूर्वक संसार का सामना करना सिखाने का भार अपने ऊपर ले लिया।

स्वामी विवेकानन्द, जिन्हें अमेरिका ने 'तूफानी-हिन्दू' का नाम दिया, धरती से गरीबी को मिटाने के लिए अधिक प्रयत्नशील थे। उन्होंने अपने गुरुदेव के सेवाभाव पर अधिक जोर दिया और इस सेवाभाव एवं राष्ट्रप्रेम के कारण वे अन्य साधारण संन्यासियों से बहुत ऊँचे उठ गये। व्यक्ति के व्यक्तित्व को सर्वांग-सम्पूर्ण बनाने के लिए उन्होंने चारित्र्य और शरीर-बल इन दोनों को प्रमुख उपादान मानते हुए इन पर उचित जोर दिया। उन्होंने कहा, "संसार को जिसकी आवश्यकता है वह है चरित्र। विश्व को आज ऐसे लोगों की आवश्यकता है जिनका जीवन निःस्वार्थ प्रेम की प्रज्वलित दीपशिखा है। वह प्रेम हर शब्द को वज्र की शक्ति प्रदान कर देगा। उठो, उठो, महान् आत्माओ, उठो ! सारा संसार दुख की ज़्वाला में जल रहा है। क्या तुम सो सकते हो ?" स्वामीजी ने दृप्त कण्ठ से पुनः कहा, "हमें एकमात्र बल का ही प्रयोजन है। बल ही भव-रोग की एकमात्र दवा है। शिक्षित द्वारा शोषित अज्ञानी के लिए बल ही एकमात्र औषध है।"

स्वामी विवेकानन्द ने लोगों के सामने अकर्मण्यता

का दर्शन नहीं रखा। उन्होंने तो इस तथ्य पर बल दिया कि कर्म उपासना है। उनकी ध्येय वाणी थी— "कर्म, कर्म और कर्म।" उन्होंने कहा, "यदि कोई मनुष्य संसार को गालियाँ दे और जंगल में चला जाय वहाँ अपने तन को सुखा डाले और भूख-प्यास से धीरे-धीरे अपने को निःशेष कर दे, अपने हृदय को सूखा मरुस्थल बना डाले, अपने भीतर की समस्त भावनाओं को कुचलकर रुक्ष, कठोर और शुष्क हो जाय, तो उसने राह खो दी है।" स्वामीजी की समस्त रचनाओं, वाणी और विचारों में मानवतावाद की प्रबल धारा प्रवाहित होती है। दरिद्रों और पददलितों के लिए उनके हृदय की करुणा प्रखर निर्झर के रूप के प्रवहमान है। हमारे जीवन की प्रत्येक क्रिया के पीछे निर्भीकता, अविराम कर्मशीलता और लक्ष्य को प्राप्त करने की सतत चेष्टा होनी चाहिए। उन्होंने कहा था, "यदि संसार में कोई पाप है तो वह है दुर्बलता। सब प्रकार की कमजोरी से बचो। कमजोरी पाप है, दुर्बलता मृत्यु है।" यह धर्म की एक नवीन व्याख्या है और यह व्याख्या धर्मसम्बन्धी परम्परागत उस धारणा का विस्फोटन कर देती है कि धर्म या अध्यात्म जीवन के प्रति निराशावादी या निषेधात्मक दृष्टिकोण रखता है।

स्वामी विवेकानन्द ने अपने ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर आर्थिक बन्धनों और सामाजिक विषमताओं का उल्लेख किया है और कहा है कि ये उन्नति के पथ को

अवरुद्ध कर देते हैं। अतएव वे हर घर से गरीबी और दरिद्रता को दूर भगा देना चाहते थे। उनकी उत्कट अभिलाषा थी कि हर गीली आँख के आँसू पोंछ दूँ। वे गरीबों और पददलितों के उत्थान में विश्वास रखते थे। वे सर्वजन सुलभ शिक्षा के पक्षपाती थे और चाहते थे कि तरुण भारतवासी अपने पैरों पर खड़े हो जायँ। अतएव उन्होंने लौकिक उन्नति पर बड़ा बल दिया, पर साथ ही उन्होंने आध्यात्मिक प्रगति का पथ भी प्रशस्त किया।

इन सभी बातों में स्वामी विवेकानन्द ने श्रीरामकृष्ण से प्रेरणा प्राप्त की, क्योंकि श्रीरामकृष्ण के मतानुसार साधुता देशप्रेम या जनसेवा की विरोधी नहीं थी। श्रीरामकृष्ण ने अध्यात्म को समाजसेवा, उदार और व्यापक दृष्टिकोण तथा असीम करुणा की ऊँचाई तक उठा दिया अतएव आश्चर्य नहीं कि रोम्याँ रोलाँ ने श्रीरामकृष्ण को 'करोड़ों भारतवासियों की विगत तीन हजार वर्ष से बहती आ रही आध्यात्मिक भावधारा की सम्पूर्ति' कहा हो। मनुष्य की सेवा सर्वोच्च प्रकार की उपासना है। सारे धर्म अपने अपने निष्ठावान अनुयायियों को अन्ततोगत्वा उसी एक परमेश्वर के पास ले जाते हैं। इस प्रकार श्रीरामकृष्ण ने 'दरिद्रनारायण' का बीज वपित किया और स्वामी विवेकानन्द ने उससे फूटनेवाले पौधे को सींच-सीचकर बड़ा किया। स्वामीजी ने घोषणा की थी, हम जीवन का निर्माण करनेवाले विचारों का

परिपाक चाहते हैं। हम चाहते हैं कि हम मनुष्य का निर्माण करनेवाले, चरित्र का निर्माण करनेवाले विचारों को आत्मसात् कर लें।

भारत के विभिन्न स्थानों पर और लंका में राम-कृष्ण मिशन की गतिविधियों में भाग लेने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। आवश्यकता और प्रयोजन पड़ने पर लोगों के पास पहुँचने में वे सबसे आगे हैं। चाहे बाढ़ हो, चाहे अकाल, इस पावन संघ के संन्यासी लक्ष-लक्ष पीड़ितों के कष्टों के निवारणार्थ उपस्थित हो जाते हैं। यह रामकृष्ण मिशन द्वारा दी गयी शिक्षा को ही प्रद-र्शित करता है। यह श्रीरामकृष्ण के उपदेशों के अनुकूल ही है क्योंकि सार्वभौम मानवता ही उनका धर्म था।

मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं अपने आपको उस अर्थ में धार्मिक नहीं कह सकता जिस अर्थ में वह शब्द बहुधा समझा जाता है। मेरा एकमात्र धर्म है मानवतावाद। और सारे धर्म भी अन्ततोगत्वा क्या सत्य, शिव, प्रेम और औदार्य के मौलिक सिद्धान्तों का ही उपदेश नहीं करते ? यदि इसे हम समझ लें तो विभिन्न धर्मों के निष्ठावान अनुयायी होने का दावा करने वाले लोग आपस की कटुता और वैमनस्य को भूल जायँ। वस्तुतः यही स्वामी विवेकानन्द का भी सन्देश है, जिन्होंने पूरी तरह अनुभव किया था कि वास्तविक धर्म वह है जो अनाहार से तड़पने वाले व्यक्ति को सान्त्वना प्रदान करता है।

स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरु के सम्मोहक व्यक्तित्व को बड़े सुन्दर शब्दों में चित्रित किया है। वे कहते हैं– "उनके चेहरे पर शिशु की सी कोमलता और अपूर्व विनयशीलता थी तथा वह अलौकिक माधुर्य से भरा रहता था। जो भी उसे देखता, बिना प्रभावित हुए नहीं रह सकता था।" श्रीरामकृष्ण की छटा ही ऐसी थी। वे अपनी इस उक्ति के जीते-जागते उदाहरण थे कि हम किसी भी पन्थ या पथ के अनुयायी क्यों न हों, यदि निष्ठापूर्वक पवित्र हृदय के साथ हम उसमें लगे रहें, तो परम आनन्द को प्राप्त कर ले सकते हैं। किसी भी धर्म का सच्चा भक्त दूसरे धर्मों के अनुयायियों के प्रति विनम्र होगा, क्योंकि आखिर सभी धर्म हमें उस परम सत्य तक ले जायेंगे।

श्रीरामकृष्ण परमहंस जैसे ऋषि और सुधी जनों की जयन्ती मनाने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि हम ऐसे अवसर पर सभी धर्मों की मौलिक एकता पर बल दें और उनमें विघटन पैदा करनेवाली जो अशुभ शक्तियाँ हैं उन्हें विवेक और शिक्षा के द्वारा दूर करें। वास्तव में यही श्रीरामकृष्ण के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी। आइये, इस लक्ष्य को प्राप्त करने का निश्चय करें।

जय हिन्द !

•

स्वामी अखण्डानन्द

डा. नरेन्द्रदेव वर्मा

युगावतार श्रीरामकृष्णदेव के लीला-संवरण के उपरान्त उनके अन्तरंग शिष्य संन्यास ग्रहण कर विभिन्न स्थानों का परिव्रजन करते हुए तपस्यापूर्ण जीवन बिताने लगे। कुछ समय बीतने पर स्वामी विवेकानन्द शिकागो में आयोजित सर्व-धर्म-सम्मेलन में भाग लेने के लिये अमेरिका रवाना हुए। अमेरिका की यात्रा के पहले उन्होंने सारे भारत की यात्रा की थी और भारतीय जीवन से घनिष्ठ परिचय प्राप्त किया था। जब वे भारत के चरणों पर स्थित कन्याकुमारी में पहुँचे थे और भारतवासियों की कारुणिक स्थिति के अवलोकन से असह्य वेदना से भरा हृदय लेकर सागर तट से कुछ दूर जल में स्थित चट्टान पर बैठे थे, तो उन्होंने भारतीय जीवन के उत्थान-पतन का जो चलचित्र अन्तर्नेत्रों से देखा था, उससे उनके जीवन-कार्य की दिशा निर्धारित हो चुकी थी। स्वामीजी भारत की क्षुधापीड़ित जनता के भोजन की व्यवस्था करने के लिये अमेरिका जाना चाहते थे। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि भूखी जनता के आगे धर्म परोसना उसका अपमान करना है। स्वामी विवेकानन्दजी की इस युगान्तरकारी धारणा से उनके कुछ गुरुभाई सहमत नहीं हो सके थे क्योंकि वे लोग सर्वथा

वीतराग होकर आत्म-तत्त्व की प्राप्ति को अपने जीवन का चरम लक्ष्य समझते थे। यही कारण था कि जब माउण्ट आबू में स्वामी ब्रह्मानन्द के साथ तपस्या करते हुए स्वामी अखण्डानन्द को स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका प्रवास की सूचना मिली और उनके उद्देश्य की जानकारी हुई थी तो वे सहसा स्वामी विवेकानन्द के विचारों से सहमत नहीं हो सके। पर जब उन्हें भारतवासियों की पीड़ितावस्था का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त हुआ तो उनकी सारी धारणा ही बदल गयी और तब उन्होंने युगाचार्य विवेकानन्द की अमेरिका-यात्रा के प्रयोजन की गम्भीरता का अनुभव किया। तब स्वामी अखण्डानन्द ने भी अपने प्राणों में लक्ष-लक्ष भारतीयों की वेदना का अनुभव किया और समझा कि पीड़ित मानवों के दुःखों को दूर करने का प्रयास ही ईश्वर की सबसे बड़ी सेवा है। तब उनका समूचा जीवन सेवामय हो गया। श्रीमद्भागवत में लिखा है :–

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

"मैं भूतल के राज्य की कामना नहीं करता और न मुझे स्वर्ग या मोक्ष की ही अभिलाषा है। मैं केवल यही चाहता हूँ कि दुःख से जलते हुए प्राणियों की पीड़ा का नाश हो जाये।" श्रीमद्भागवत का यह श्लोक स्वामी अखण्डानन्द के जीवन का भरत-वाक्य बन गया।

स्वामी अखण्डानन्द का पूर्व नाम गंगाधर घटक

था। वे ३० सितम्बर सन १८६४ को कलकत्ता के एक सम्भ्रान्त परिवार में पैदा हुए थे। बाल्यकाल से ही उनपर धार्मिक संस्कार पड़े थे तथा वे आचार-विचार का बड़ी कट्टरता से पालन करते थे। गंगाधर त्रिसन्ध्या स्नान करते तथा अपना भोजन स्वयं पकाया करते। वे हरिनाथ (जो बाद में स्वामी तुरीयानन्द के नाम से विख्यात हुए) के घनिष्ठ मित्र थे। हरिनाथ प्रायः दक्षिणेश्वर के सन्त से मिलने जाया करते थे। एक दिन गंगाधर भी उनके साथ श्रीरामकृष्ण देव के दर्शन करने दक्षिणेश्वर पहुँचे।

श्रीरामकृष्ण देव ने बड़ी आत्मीयता से उन दोनों का स्वागत किया और फिर गंगाधर से पूछा कि क्या उसने पहले भी उन्हें देखा है। गंगाधर ने बताया कि एक बार जब श्रीरामकृष्ण बागबाजार में अपने भक्त दीनानाथ के घर आये थे तब वहाँ उन्हें पहली बार देखा था। पर उस समय गंगाधर की आयु बहुत कम थी। श्रीरामकृष्ण के अनुरोध से उस दिन गंगाधर का कलकत्ता लौटना नहीं हुआ। दूसरे दिन जव वे उनसे बिदा लेने पहुँचे तब श्रीरामकृष्ण देव ने उन्हें पुनः वहाँ आने के लिए कहा।

देवमानव श्रीरामकृष्ण के अलौकिक आकर्षण से खिचकर गंगाधर बार-बार उनके पास आने लगे। प्रत्येक बार उन्हें युगावतार के व्यक्तित्व का नया रूप देखने को मिलता। प्रारम्भिक परिचय क्रमशः घनिष्ठ आत्मी-

यता में परिणत हो गया और श्रीरामकृष्ण देव के स्वर्गिक प्रेम का आस्वाद कर गंगाधर विभोर हो उठे। उनके पुनीत साहचर्य से गंगाधर की सुषुप्त आध्यात्मिकता जाग उठी और उनके हृदय में वैराग्यानल प्रदीप्त हो उठा। श्रीरामकृष्ण देव भी अपने इस शिष्य की आध्यात्मिक सम्भावनाओं से परिचित हो चुके थे। अतः वे बड़े मनोयोग से उसके जीवन को गढ़ने के लिये आध्यात्मिक निर्देश प्रदान करने लगे।

श्रीरामकृष्ण देव गंगाधर की आचारविषयक कट्टरता से अवगत थे। गंगाधर यह अनुमान ही न कर सकते थे कि बिना ऐसी कट्टरता के आध्यात्मिक जीवन विताया जा सकता है। श्रीरामकृष्ण देव ने बड़ी ही मनोवैज्ञानिक विधि से गंगाधर की इस धारणा को बदल दिया। एक दिन उन्होंने उससे कहा, "नरेन्द्र को तो देखो ! उसके नेत्र कितने दिव्य हैं ! वह तो दिन में सौ-सौ पान चबा डालता है और कुछ भी अल्लम-गल्लम खा लेता है। पर उसका मन कितना अन्तर्मुखी है ! जब वह कलकत्ते की सड़कों पर चलता है तो उसे घोड़े-गाड़ियों तक में ईश्वर के दर्शन होते हैं। उससे जाकर किसी दिन मिलना। वह सिमला में रहता है।"

दूसरे ही दिन गंगाधर नरेन्द्रनाथ से उनके घर में मिले। प्रथम भेंट में ही उन्होंने जान लिया कि श्रीरामकृष्ण देव ने नरेन्द्र के सम्बन्ध में जो कुछ कहा था, वह शत-प्रतिशत सत्य है। श्रीरामकृष्ण देव से अपनी भेंट

का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा, "वहाँ पहुँचकर मैंने देखा कि नरेन्द्र की आँखें अत्यन्त प्रभावी हैं। वे अंग्रेजी की एक मोटी किताब पढ़ने में तल्लीन थे। सारा कमरा धूल से भरा हुआ था पर उन्हें इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं थी। उसका मन संसार से ऊपर उठा प्रतीत हुआ।" श्रीरामकृष्ण देव यह सुनकर आश्चर्यचकित हो गये कि गंगाधर ने एक ही भेंट में नरेन्द्रनाथ के सम्बन्ध में इतना कैसे जान लिया। उन्होंने गंगाधर को नरेन्द्र-नाथ से मिलते रहने के लिये कहा।

कुछ ही दिनों में गंगाधर नरेन्द्रनाथ के घनिष्ठ मित्र हो गये और यह घनिष्ठता मैत्री से बदलकर आत्मीयता में परिवर्तित हो गयी। गंगाधर भी अन्य गुरुभाइयों के साथ श्रीरामकृष्ण देव के चरणों के समीप उपस्थित रहकर आध्यात्मिक साधनाओं में लग गये। कालान्तर में जब श्रीरामकृष्ण देव गले की व्याधि से पीड़ित होकर काशी-पुर में निवास कर रहे थे तब गंगाधर ने भी मन-प्राण से उनकी सेवा की। अगस्त १८८६ में उनके लीला-संवरण के उपरान्त उनके युवा-भक्तों ने बराहनगर मठ संगठित किया और नरेन्द्रनाथ के नेतृत्व में संन्यास-दीक्षा ग्रहण की। इसी समय नरेन्द्रनाथ स्वामी विवेका-नन्द बने। पर गंगाधर ने यद्यपि इस समय अन्य गुरु-भाइयों के साथ संन्यास ग्रहण नहीं किया था तथापि उनके हृदय में वैराग्य की ज्वाला जल रही थी और वे मुक्त संन्यासी का जीवन बिताना चाहते थे।

इसी महती इच्छा से प्रेरित होकर उन्होंने फरवरी १८८७ में हिमालय और तिब्बत की यात्रा प्रारम्भ की और १८९० तक तीन बार तिब्बत में आना-जाना किया। उन्होंने तिब्बती भाषा पर समुचित अधिकार प्राप्त कर लिया था तथा तिब्बती जनता के जीवन का अत्यन्त सूक्ष्म अध्ययन किया था। 'उद्‌बोधन' पत्रिका में उन्होंने धारावाहिक रूप से 'तिब्बत में तीन वर्ष' लेखमाला प्रकाशित की थी तथा 'वसुमति' में उनके साहसिकता और जोखिम से भरे संस्मरण प्रकाशित हुए थे। इन लेखों में स्वामी अखण्डानन्द का बंग-भाषा पर असाधारण अधिकार प्रकट होता है।

तिब्बत में लगभग तीन वर्ष बिताकर स्वामी अखण्डानन्द भारत लौटे। इसी समय गाजीपुर में उनकी भेंट स्वामी विवेकानन्द से हुई। उनके साथ कुछ समय तक भ्रमण करने के उपरान्त वे बराहनगर मठ लौट आये। पर उनका हृदय नगाधिराज हिमालय की नवनवोन्मेषशालिनी शोभा के आकर्षण से पूरित था। आध्यात्मिकता के पुंजीभूतस्वरूप हिमवान की गगनचुम्बी चोटियाँ संन्यासी का आह्‌वान कर रही थीं। निदान वे उसी वर्ष जुलाई मास में स्वामी विवेकानन्द जी के साथ पुनः हिमालय की यात्रा पर निकल पड़े। कुछ दिन अल्मोड़ा में रुककर उन्होंने कर्णप्रयाग होते हुए बद्रीनारायण की यात्रा शुरू की। पर उन दोनों की तबीयत बारी-बारी से खराब होती गयी, फलतः उन्हें अपनी

यात्रा स्थगित कर टिहरी होकर देहरादून लौटना पड़ा। वहाँ से स्वामी अखण्डानन्द चिकित्सा के लिये मेरठ चले आये। कुछ समय बाद उन्हें पता चला कि अत्यधिक तपस्या करने के कारण स्वामी विवेकानन्द ऋषिकेश में अस्वस्थ हो गये हैं। इसलिये वे स्वामी ब्रह्मानन्द के साथ उनके पास पहुँचे। वहाँ तीनों गुरुभाइयों ने लगभग पाँच महीने तपस्या में व्यतीत किये। अब स्वामी विवेकानन्द अकेले भ्रमण करना चाहते थे, इसलिये उन्होंने स्वामी ब्रह्मानन्द और स्वामी अखण्डानन्द को वापस लौटने के लिये कहा और स्वयं अपनी यात्रा प्रारम्भ कर दी। अखण्डानन्द जी उनसे अगाध प्रेम करते थे। अतः वे अज्ञात रूप से स्वामी विवेकानन्द के पीछे-पीछे चलने लगे। अन्ततः कच्छ के कच्छ माण्डवी नामक स्थान पर दोनों गुरुभाइयों का साक्षात्कार हुआ पर स्वामी विवेकानन्द के अत्यधिक अनुरोध के कारण अखण्डानन्द जी को उन्हें अकेले भ्रमण करने के लिये छोड़ देना पड़ा।

अत्यधिक तितिक्षा और भ्रमण के कारण स्वामी अखण्डानन्द का स्वास्थ्य गिर चुका था। अतः वे खेतड़ी में रहकर अपनी चिकित्सा कराने लगे। यहाँ उन्हें लगभग छः महीने रुकना पड़ा। इस समय उन्हें सभी वर्ग के व्यक्तियों के सम्पर्क में आने का अवसर मिला। राजपूताने की दरिद्र एवं प्रताड़ित जनता की दुरवस्था को देखकर उनका संवेदनशील हृदय द्रवित हो उठा और उन्होंने दरिद्रनारायण की सेवा को अपने जीवन का

लक्ष्य बना लिया। इन दिनों स्वामी विवेकानन्द अमेरिका में थे। स्वामी अखण्डानन्द ने अपना कार्य प्रारम्भ करने के पहले उनसे सहमति माँगी। स्वामी विवेकानन्द ने उन्हें उत्साहवर्धक पत्र लिखा। अब स्वामी अखण्डानन्द दरिद्रता के विरुद्ध प्राण-पण से संघर्ष में जुट गये। वे जानते थे कि भारतवासियों की दरिद्रता का मूल कारण अज्ञान है तथा उसका उच्छेदन तभी किया जा सकता है जब जनता शिक्षित हो। इसलिये उन्होंने शिक्षा के प्रसार को अपना प्रमुख लक्ष्य बनाया और घर-घर जाकर लोगों को अपनी सन्तानों को अधिकाधिक शिक्षा प्रदान करने के लिये प्रेरित किया। उनके प्रयासों से खेतड़ी के हाई स्कूल में विद्यार्थियों की संख्या ८० से बढ़कर २५७ हो गई। इसके अतिरिक्त ग्रामीण क्षेत्रों में उन्होंने पाँच प्राथमिक शालाओं और खेतड़ी में संस्कृत पाठशाला तथा वैदिक पाठशाला की स्थापना की। अखण्डानन्द जी के कार्य की महत्ता का अनुभव कर खेतड़ी के महाराज ने प्रतिवर्ष इन शिक्षण-संस्थाओं को पाँच हजार रुपये का अनुदान देना स्वीकार कर लिया।

एक वर्ष बाद स्वामी अखण्डानन्द ने उदयपुर की यात्रा की। यहाँ वे राजपूताने की आदिम जातियों की दरिद्रता का अवलोकन कर अत्यन्त दुखी हुए। भूख से बिलबिलाते भीलों को देखकर उनका हृदय क्रन्दन कर उठा और उन्होंने उन्हें पेट भर भोजन कराया। उसके उपरान्त उदयपुर के नाथद्वारा में उन्होंने इंग्लिश मिडिल

स्कूल की स्थापना की और अलवर आदि अनेक स्थानों में आध्यात्मिक, सामाजिक एवं शैक्षणिक विषयों पर चर्चा करने के लिए गोष्ठियों का प्रारम्भ किया। सन् १८९५ में वे वापस आलमबाजार मठ में लौट आये।

मठ में भी स्वामी अखण्डानन्द निरन्तर दरिद्रों और रोगियों की सेवा करते रहे। सन् १८९७ में वे पुनः गंगा के किनारे-किनारे उत्तर दिशा में पैदल भ्रमण करते हुए निकल पड़े। यहाँ उन्हें तलस्पर्शी दरिद्रता के दर्शन हुए। मुर्शिदाबाद जिले के बहरामपुर नामक स्थान पर उन्होंने अकाल और भुखमरी की कृत्या को विनाश-नृत्य करते हुए देखा। उनके चरण ठिठक गये और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जब तक इन लोगों की पीड़ा का विमोचन नहीं हो जाता तब तक वे इन्हें छोड़कर आगे नहीं बढ़ेंगे। उन्होंने स्वामी विवेकानन्द को सारी स्थिति की सूचना दी। स्वामी विवेकानन्द तीन महीने पूर्व ही विदेश से लौटे थे। उन्होंने तत्काल दो संन्यासियों को कुछ धन देकर अखण्डानन्द जी की सहायता करने के लिये भेजा इस प्रकार अखण्डानन्द जी के नेतृत्व में रामकृष्ण मिशन का पहला अकाल-विरोध केन्द्र गठित हुआ। माहुला और पाँचगाँव में दो सहायता केन्द्र खोले गये और लगभग एक वर्ष तक सहायता-कार्य चलता रहा।

इसी समय स्वामी अखण्डानन्द को दो अनाथ बालक मिले। उनका सारा भार उन्हीं को ग्रहण करना पड़ा। तभी उनके मन के इन अनाथ बालकों के निवास की

स्थायी व्यवस्था करने का विचार उठा और उन्होंने माहुला ग्राम में 'रामकृष्ण आश्रम' के नाम से एक अनाथालय की स्थापना की जिसे कुछ ही दिनों बाद सारगाछी में स्थानान्तरित कर दिया गया। स्वामी अखण्डानन्द इस संस्था से जीवनपर्यन्त सम्बद्ध रहे और उनके सत्प्रयासों से अनेकानेक अनाथ बालओं के जीवन का निर्माण हुआ। यहाँ अखण्डानन्द जी ने बालकों के लिये एक पाठशाला की स्थापना की तथा प्रौढ़ों की शिक्षा के लिये एक रात्रिकालीन पाठशाला का भी प्रारम्भ किया। सन् १९०० से यहाँ विविध शिल्पकला विद्यालय की भी स्थापना की गई जिसमें विद्यार्थियों को सिलाई, बुनाई, बढ़ईगिरी, रेशम-उत्पादन तथा बागवानी की शिक्षा दी जाती थी। विद्यार्थियों द्वारा निर्मित वस्तुएँ अत्यन्त लोकप्रिय हुई थीं तथा अनेकानेक प्रदर्शनियों में उन्हें पुरस्कार भी मिला था। यह विद्यालय १० वर्ष चला और बाद में स्थान की कमी के कारण इसे बन्द कर दिया गया।

स्वामी अखण्डानन्द विद्यार्थियों के लिये सामान्य शिक्षा को पर्याप्त नहीं समझते थे। चरित्र-निर्माण की दृष्टि से वे धार्मिक शिक्षा को शिक्षा का अनिवार्य अंग मानते थे। आश्रम के विद्यार्थियों के लिए उन्होंने धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था की थी। प्रातःकाल और संध्याबेला विद्यार्थीगण सामूहिक रूप से प्रार्थना और धार्मिक ग्रन्थों का पाठ करते थे। विद्यार्थियों के चुनाव में जाति या

धर्म का बन्धन नहीं था। कुछ अनाथ मुसलमान विद्यार्थी भी अपने धार्मिक विश्वास के साथ आश्रम में रहा करते थे। आश्रम में रहने वाले विद्यार्थियों को हृदय-विस्तार की शिक्षा दी जाती थी और उनके अन्तःकरण में सेवा-भाव को जागृत किया जाता था। जब उस क्षेत्र में महामारी और विशूचिका का आक्रमण हुआ था तब इन विद्यार्थियों ने अपूर्व निष्ठा से सेवाकार्य सम्पन्न किया था।

स्वामी अखण्डानन्द का हृदय इतना द्रवणशील और परदुःखकातर था कि वे मनुष्यों की पीड़ा का निवारण करने के लिए अहर्निश तत्पर रहते थे। बिहार के भागलपुर जिले में बाढ़ और विशूचिका के आक्रमण के समय उन्होंने सत्तर दिनों तक सेवा-कार्य का संचालन किया था और घोघा नामक स्थान पर पचास गाँवों की बाढ़ पीड़ित जनता की पीड़ा के विमोचन का प्रयास किया था। इसीप्रकार मुंगेर और भागलपुर क्षेत्र में सन् १९३४ के भूकम्प के समय भी अखण्डानन्द जी वहाँ पहुँचे थे और दुःखग्रस्त लोगों की सहायता की थी।

स्वामी अखण्डानन्द का परवर्ती जीवन घटनाबहुल नहीं है। वे चुपचाप दरिद्र और पीड़ित मानवता की सेवा में लगे रहे। अत्यधिक परिश्रम से उनका स्वास्थ्य गिरता जा रहा था पर उन्हें शरीर की तनिक भी चिन्ता नहीं थी। अस्वस्थ होते हुए भी वे सारगाछी गाँव में सहायता-कार्य का संचालन करते रहे। सन् १९२५ में उन्हें रामकृष्ण मिशन का उपाध्यक्ष चुना गया। और

स्वामी शिवानन्द जी के ब्रह्मलीन होने के उपरान्त सन् १९३४ में उन्हें अध्यक्ष बना दिया गया। यद्यपि नयें उत्तरदायित्व के कारण उनका बेलुड़ मठ में रहना आवश्यक था पर वे सारगाछी के कोलाहलशून्य वातावरण में अपने अनाथ विद्यार्थियों के बीच रहना अधिक पसन्द करते थे।

अपूर्व कर्मठता के साथ ही स्वामी अखण्डानन्द में विनोद और साहित्यिक प्रतिभा कूट-कूटकर भरी थी। उनकी दृष्टि बड़ी पैनी थी। वे ओजस्वी वक्ता थे तथा उनकी लेखनी में प्रसाद था। उनमें विविध भाषाओं को सीखने की एक नैसर्गिक प्रवृत्ति थी। तिब्बती भाषा का ज्ञान तो उन्हें था ही, राजपूताने में रहते समय उन्होंने हिन्दी व्याकरण का अध्ययन भी किया था। बंग भाषा के वे अधिकारी विद्वान् थे तथा अंग्रेजी और संस्कृत में भी उनकी गहरी पैठ थी। बंगाल में उन्होंने वैदिक ज्ञान और संस्कृत भाषा के प्रसार के लिए अनेकानेक संस्थाओं की स्थापना का प्रयास किया था।

अध्यक्ष बनने के बाद स्वामी अखण्डानन्द ने बहुत से लोगों को दीक्षा दी थी और उन्हें आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर किया था। वे अपने शिष्यों और भक्तों को नैतिक जीवन बिताने पर अधिक बल देते थे। अनेकानेक आत्माओं के समान उन्हें भी अपने मृत्यु का पूर्वाभास हो गया था। एक वर्ष पूर्व ही उन्होंने अपने शिष्यों को इसका संकेत किया था और अपने समक्ष रामायण

एवं महाभारत के पाठ का आयोजन कराया था। उनके मन में जगन्माता की 'वासन्ती पूजा' सम्पन्न करने की बड़ी इच्छा थी। स्वामी ब्रह्मानन्द और स्वामी शिवानन्द भी इस प्रकार का अनुष्ठान कराना चाहते थे, पर उनके जीवनकाल में यह इच्छा पूर्ण नहीं हो पायी थी। स्वामी अखण्डानन्द ने शीघ्र ही जगन्माता की पूजा के लिये मण्डप बनाने का कार्य प्रारम्भ करा दिया और उन्होंने आश्रमवासियों से कहा, "अगर मैं पूजा देखने के लिये जीवित नहीं रहा तो भी मुझे इतना संतोष अवश्य रहेगा कि माता की पूजा के लिए मण्डप बन गया है। शेष कार्य तुम लोग कर ही लोगे।"

स्वामी अखण्डानन्द रोगशय्या में नहीं पड़े रहना चाहते थे। किन्तु वृद्धावस्था और रुग्णता के कारण उन्हें दूसरों की सेवा बाध्य होकर ग्रहण करनी पड़ती थी। कभी-कभी उनके मन में मनुष्यों से दूर किसी निर्जन स्थान में जाकर रहने की इच्छा होती थी। यद्यपि उन्हें सारगाछी का वातावरण अत्यन्त प्रिय था, पर वे अपना देहत्याग बेलुड़ मठ में ही करना चाहते थे क्योंकि वहाँ स्वामी विवेकानन्द तथा अन्य गुरुभाइयों की असंख्य स्मृतियाँ जुड़ी हुई थीं। उनकी यह इच्छा श्रीभगवान् ने पूरी कर दी। जब वे अच्छी चिकित्सा के लिए सारगाछी से बेलुड़ मठ लाये गये तब ७ फरवरी सन् १९३७ को वे महासमाधि में लीन हो गये।

युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द ने कहा था– "दरिद्र

अशिक्षित, अज्ञानी और पीड़ित व्यक्ति ही तुम्हारे ईश्वर हों। इनकी सेवा ही सबसे बड़ा धर्म है।" स्वामी अखण्डानन्द इस युगधर्म के जीवन्त विग्रह बने। स्वामी विवेकानन्द ने नवजागृत भारत को 'शिव-भाव से जीव सेवा' का मंत्र प्रदान किया था। स्वामी अखण्डानन्द का जीवन इस महान् मंत्र की टीका बनकर उपस्थित हुआ।

•

विज्ञान और धर्म

स्वामी पवित्रानन्द

धर्म का सबसे पहला और तगड़ा विरोध विज्ञान ही करता है। विज्ञान प्रयोग और परीक्षण पर आधारित है। वह प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य अनुभवों पर विश्वास करता है। प्रयोगशाला में कार्यरत वैज्ञानिक ईश्वर का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं पाता। वह आकाश को दूर-बीन से छानता है और परमाणु की सूक्ष्मातिसूक्ष्म छानबीन करता है, पर देखता है कि वहाँ ईश्वर नहीं है। अतः वह विश्वास और साहस के साथ घोषणा करता है कि ईश्वर कहीं नहीं है, ईश्वर का अस्तित्व है ही नहीं, ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास करना केवल एक पुराण-कल्पना है, एक अन्धविश्वास मात्र है। विज्ञान का आधुनिक मानव-मन पर इतना प्रभाव है कि बहुतेरे लोग उपर्युक्त बात को ही 'सत्य वचन' मानते हैं। उनकी धारणा यह है कि चूँकि एक वैज्ञानिक ने ऐसा कहा है अतः वह गलत हो ही नहीं सकता। वे भूल जाते हैं कि आखिर वैज्ञानिक भी एक मनुष्य है और मनुष्य होने के नाते वह भी भूल कर सकता है। अधिकांश लोग इस बात का ध्यान नहीं रखते कि ऐसे बहुत से वैज्ञानिक सिद्धान्त, जो एक दिन अकाट्य माने जाते थे, आज काट दिये गये हैं। यूक्लिड, जो लगभग दो हजार वर्ष तक गणित के साम्राज्य का सम्राट बना रहा, आज चुनौती का सामना कर रहा है। अब यह मान्यता उभर रही है कि यूक्लिड

के रेखागणित के अलावा अन्य प्रकार के रेखागणित भी सम्भव हैं। न्यूटन द्वारा आविष्कृत नियम जो अब तक विज्ञान के अधिकांश क्षेत्रों में गवेषणा और अनुसंधान के आधार बने हुए थे, आज अपर्याप्त मालूम पड़ रहे हैं। तथापि यह एक श्रेय की बात है कि विज्ञान के क्षेत्रों में कार्य करने वाले व्यक्ति पूर्वाग्रह से पीड़ित नहीं होते। वे किसी भी सिद्धान्त को अनुल्लंघनीय नहीं मान लेते; न ही वे किसी मनुष्य को, चाहे कितना ही महान् प्रतिभा-वान वह क्यों न हो, साधारण मनुष्यों की कमजोरियों से पूर्णतः मुक्त मानते हैं। वे प्रत्येक व्यक्ति को एक या दो बार नहीं, बल्कि लगातार और हरदम चुनौती देते रहते हैं। यदि इसके बावजूद वह व्यक्ति खड़ा रह जाय, तभी उसकी बातों का विश्वास किया जाता है, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार, यदि वह व्यक्ति किसी काल में चुनौती का सामना न कर सके तो उसके सिद्धान्त अमान्य कर दिये जाते हैं, भले ही लोग उन सिद्धान्तों पर सैकड़ों या हजारों वर्ष से विश्वास करते चले आये हों। सामान्य मनुष्य वैज्ञानिक जगत् के भीतर चलने वाली इन गति-विधियों को जानने का प्रयास नहीं करता। उसके लिए तो जो भी एक बार वैज्ञानिक सत्य के नाम से उद्घोषित किया गया वह चिरकाल के लिए सत्य बना रह जाता है। उसकी विज्ञान के प्रति भययुक्त श्रद्धा होती है। इसीलिए वह सोचता है कि जब एक वैज्ञानिक ने यह बात कही है तो वह गलत नहीं हो सकती। यही

कारण है कि विज्ञान के धर्म सम्बन्धी मत ने ईश्वर और धर्म में बहुतों की आस्था को डिगा दिया है।

विज्ञान का इसी जीवन में व्यावहारिक उपयोग है। धर्म मरणोत्तर जीवन में लाभ मिलने की बात करता है। बहुत से लोग धार्मिक अनुष्ठानों को मरणोत्तर जीवन में प्राप्त होने वाले सुखों के लिए बीमा के भुगतान के रूप में देखते हैं। वे अज्ञात के डर से वर्तमान जीवन में कुछ पुण्य कर्म करते हैं। पर उसका परिणाम उन्हें इस जीवन में नहीं दिखाई देता। विज्ञान द्वारा होनेवाली मानवता की सेवा इस तरह की नहीं है; वह तो ग्राह्य और प्रत्यक्ष है तथा उसका परिणाम हाथों-हाथ मिलता है। दिन-प्रतिदिन विज्ञान मानव के लिए नये-नये, विस्तार वाले आयाम खोलता जा रहा है और बढ़ती हुई भौतिक सुविधाएँ देकर वह मानवता की प्रचण्ड सेवा कर रहा है। विज्ञान है शक्ति। वैज्ञानिक आविष्कारों की सहायता से मनुष्य अधिकाधिक शक्ति सम्पन्न होता जा रहा है, यहाँ तक कि वह अब अपने सृष्टिकर्ता की भी अवहेलना कर रहा है। संहारकारी शक्ति के रूप में भी विज्ञान कितना प्रचण्ड है! परमाणु बम ने समस्त संसार को भयग्रस्त बना दिया है। कैसा महान् आविष्कार! अदृश्य, सूक्ष्म परमाणु में कितनी शक्ति भरी है! विज्ञान की सेवाओं की तुलना में, भौतिक सुविधा की दृष्टि से धर्म का उपयोग यदि बिल्कुल शून्य न हो, तो नगण्य अवश्य है। जब तुम वर्तमान जीवन की जरूरी समस्याओं

का हल नहीं निकाल पाते तो परलोक में शान्ति और आनन्द मिलने की बात क्यों करते हो ? दिन-प्रतिदिन के जीवन की जो कठिनाइयाँ हैं, उन्हें हल करने में विज्ञान हमारी बड़ी मदद करता है। इस प्रकार विज्ञान ने मानव मन में एक बड़ा विश्वास पैदा कर दिया है। यदि एक या दो सिद्धान्त गलत भी साबित हुए, तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता। आकाशमण्डल के ग्रहों की हल-चल को समझाने के लिए यदि गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त अपर्याप्त मालूम हो तो उससे हर्ज क्या हुआ ? खाली आँखों से न दिखनेवाला तारा दूरबीन की सहायता से देखा जा सकता है। यह एक महान् आश्चर्य है। कल्पना करो उस व्यक्ति के आश्चर्य की जिसने पहले-पहल दूर-बीन से दूर के तारे को देखा होगा ! जब मनुष्य देखता है कि विज्ञान अलादीन के चिराग की तरह करतब दिखा सकता है, तब वह उस धर्म की परवाह क्यों करेगा जो अतीन्द्रिय अनुभूतियों और तत्वों की बात करता है?

परन्तु हाल में विज्ञान और धर्म के सम्बन्ध की बड़ी चर्चा रही है। प्रश्न यह है कि विज्ञान और धर्म में भला किसी प्रकार सम्बन्ध ही क्योंकर हो ? दोनों के क्षेत्र अलग अलग हैं। विज्ञान और धर्म मानों समानान्तर-प्रवाही हैं और सम्भव है कि वे कभी न मिलें। यह सत्य है कि कुछ लोग धर्म में बिना किसी प्रकार की रुचि रखे, विज्ञान में भरपूर विश्वास रखते हैं। पर कहना यह है कि विज्ञान और धर्म प्रतिद्वन्द्वी नहीं हैं। तुलना

तो ऐसी दो वस्तुओं में हो सकती है जो एक ही श्रेणी के अन्तर्गत आती हों। पर जब दो वस्तुएँ एकदम अलग-अलग प्रकार की हों, तो उन दोनों में तुलना कैसे हो सकती है ?

विज्ञान बाह्य प्रकृति के पदार्थों और घटनाओं से सम्बन्ध रखता है, जबकि धर्म मनुष्य के भीतरी जगत् की बात कहता है। विज्ञान बाहरी प्रकृति की भव्यता के आविष्कार में रत है, जबकि धर्म मनुष्य की भीतरी प्रकृति के नियमों के अध्ययन में लगा है। ऐसी दशा में हम इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित कर सकते हैं ? मनुष्य के मन में विज्ञान उच्चतर स्थान प्राप्त कर लेता है क्योंकि उसके आविष्कार इन्द्रियग्राह्य और दर्शनीय होते हैं। धर्म के आविष्कार जनता के समक्ष प्रत्यक्षत: प्रदर्शित नहीं किये जा सकते, उनका तो हृदय में अनुभव ही करना पड़ता है। तथापि धर्म के आविष्कार भी यदि अधिक नहीं तो उतने ही सत्य हैं जितने कि विज्ञान के आविष्कार। उस दृष्टि से देखा जाय, तो धर्म भी एक विज्ञान है। विज्ञान की मूल बात यह है कि वह ऐसे व्यक्ति व वर्ग को नहीं मानता जिसे भगवान् ने विशेष अधिकार देकर भेजा हो। कोई भी व्यक्ति वैज्ञानिक द्वारा आविष्कृत सत्य को अपने तई परीक्षित करके देख सकता है। विज्ञान व्यक्तियों की परवाह नहीं करता। यदि कोई वैज्ञानिक घोषणा करता है कि उसके द्वारा खोजा गया सत्य दूसरों के लिए बन्द

किताब है, तो वह वैज्ञानिक न रहकर जादूगर की श्रेणी में उतर जाता है। ऐसी दशाओं में वैज्ञानिक और जादूगर में कोई अन्तर ही नहीं रह जाता। विज्ञान एक खुली किताब है, उसमें कोई गोपनीयता नहीं है, इसीलिए लोगों का उसके प्रति प्रबल विश्वास है। विज्ञान सदासर्वदा परीक्षण और कसौटी में कसे जाने के लिए तैयार है।

सच्चे धर्म के लिए भी यही बात लागू होती है। कोई मसीहा ऐसा नहीं कहता, 'मैंने सत्य को जान लिया है,और तुम मूढ़ लोग उसे नहीं जान सकते।' बल्कि मसीहा की महानता इसी में है कि वह उच्चतम सत्य को हर मनुष्य के दरवाजे तक उतार लाता है। वह कहता है, 'परिश्रम और भार से थके लोगों! आओ! मैं तुम्हें विश्राम दूँगा।' अपनी खोजों के लाभ को मानवमात्र में बाँटने की आतुरता हर मसीहे में देखी जाती है। उसके सामने ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, साधु-पापी का भेद नहीं है। वह तो सबको समान रूप से अपनी धन्यता बाँटना चाहता है। वास्तव में, जो मसीहा आध्यात्मिकता की सीढ़ी पर जितने ऊँचे उठता है, उसमें पीड़ित मानवता के लिए उतनी ही अधिक करुणा और सहानुभूति दिखायी देती है। फिर, कोई भी मसीहा यह नहीं कहता कि चूँकि मैं इसे सत्य समझता हूँ, इसलिए तुम भी इसे सत्य मान लो, बल्कि वह तो यही कहता है, 'अपने तईं प्रयोग करके देख लो। तुम भी उसी निष्कर्ष पर पहुँचोगे और तब तुम्हारा विश्वास पक्का हो जायेगा और धारणा

दृढ़मूल हो जायेगी।' आध्यात्मिक सत्यों के सम्बन्ध में कठिनाई यह है कि उनका अनुभव करना पड़ता है, अपने हृदय के अन्तरतम प्रदेश में उनका साक्षात्कार करना पड़ता है, अपने तईं उनका ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। आध्यात्मिक सत्य स्वसंवेद्य होते हैं, उन्हें अपरोक्ष अनुभूति की कसौटी पर कसना होता है। केवल अनुभव-कर्ता ही जान सकता है कि उसने सत्य का साक्षात्कार कर लिया है। दूसरे लोग इस अनुभूति का उसके जीवन और चरित्र पर होने वाले परोक्ष प्रभाव को ही देख सकते हैं– उनके निःस्वार्थ प्रेम, प्राणिमात्र के लिए उसकी असीम करुणा और सर्वोपरि अपने चतुर्दिक शान्ति और आनन्द प्रवाहित करने की उसकी क्षमता का ही अवलोकन कर सकते हैं।

हम सामान्य रूप से ज्ञान का जो अर्थ समझते हैं, आध्यात्मिक सत्य उस प्रकार का ज्ञान नहीं है। वे कहीं बाहर से नहीं आते, वे तो भीतर से ही उठते हैं और समूचे जीवन को बदल देते हैं। आत्मा की ब्रह्मस्वरूपता को जानना और तद्रूप हो जाना– यही धर्म का वास्तविक अर्थ है। आध्यात्मिक जीवन के नियम शाश्वत हैं। काल के प्रवाह से उनमें कोई परिवर्तन नहीं आता। उनमें रहस्य नाम की कोई चीज नहीं है। जो भी व्यक्ति तदनुकूल अनुशासन और नियमों का पालन करने को तत्पर है, वह उन सत्यों को जाँच के द्वारा परख सकता है। विज्ञान के क्षेत्र में सत्य बुद्धि के द्वारा जाने जाते हैं,

जबकि आध्यात्मिक सत्यों का साक्षात्कार मन के अनुशासन के द्वारा सम्भव होता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि आध्यात्मिक सत्यों में कोई न्यूनता हो। वे भी उतने ही प्रामाणिक होते हैं जितने कि विज्ञान के सत्य। वे सभी के लिए खुले हैं। आध्यात्मिक सत्यों की विशेषता यह है कि वे किसी भी काल में खण्डित नहीं किये जा सके हैं, जबकि वैज्ञानिक सत्य हजारों वर्ष तक खड़े रहकर भी नवीन आविष्कारों के कारण गिर पड़े हैं। सभी युगों और सभी भूभागों के मसीहा एक ही बात कहते हैं– भले उनके शब्द भिन्न हों और कहने के तरीके अलग अलग हों। एक सरल सा उदाहरण लें। बहुत से सन्तों और पैगम्बरों ने कहा है– 'भगवान् आकुल हृदय की पुकार सुनते हैं।' सबसे बाद में आया मसीहा इसी एक बात को, अपनी अनुभूति पर नूतन बल डालकर, दुहराता है। सड़क पर चलनेवाला सामान्य आदमी भले इन शब्दों में विश्वास न करे, पर जो व्यक्ति खुले मन से इस सिद्धान्त को अपनाता है, वह उपर्युक्त कथन की सत्यता का अनुभव कर लेता है। स्मरणातीत काल से सहस्र सहस्र लोग इस बात का प्रमाण पाते रहे हैं। भले ही वे अन्य दूसरी बातों पर विश्वास न करें। पर उपर्युक्त सत्य को अमान्य करना उसके लिए कठिन ही होगा, क्योंकि उन्होंने स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव किया है। यह अपरोक्ष अनुभव अनेकानेक सिद्धान्तों और कल्पनाओं से टक्कर लेने में समर्थ है। उक्त कथन की सत्यता का

अनुभव करने वाले व्यक्ति केवल इतना कहते हैं, 'तुम इस निर्दिष्ट प्रणाली का अनुसरण करो तो धीरे-धीरे तुम्हें हमारे कथन की सत्यता मालूम हो जायेगी। मुश्किल यह है कि सामान्य जन सन्त-महात्माओं की बातों को बुद्धि के द्वारा जाँचना चाहते हैं। पर इस क्षेत्र में बुद्धि का उपयोग नहीं हो पाता। विज्ञान के क्षेत्र में भी हर चीज को जानने के लिए उसका एक विशेष औजार होता है। आप दूर के तारे को सूक्ष्मदर्शक यंत्र से नहीं देख सकते, और न मलेरिया के कीटाणुओं का पता सर्जन के छुरे से पा सकते हैं। इसी प्रकार, बुद्धि के सहारे, फिर वह कितनी भी तीक्ष्ण क्यों न हो, आप आध्यात्मिक सत्यों का परीक्षण नहीं कर सकते। उसके लिए तो भीतरी अनुशासन—मनःसंयम—की आवश्यकता है। बहुत थोड़े ही व्यक्ति इस शर्त को मानने के लिए तैयार होते हैं। यही कारण है कि लोग अध्यात्म के क्षेत्र में सम्यक् निष्कर्ष पर आने में असफल होते हैं।

इसका मतलब यह नहीं कि धर्म के क्षेत्र में पोंगापन्थी नहीं है। यहाँ छल-कपट भी बहुत हैं। बहुत से धूर्त और ढोंगी धार्मिक व्यक्ति बने घूमते रहते हैं। बहुत सी ऐसी बातें जो धर्म से सम्बन्धित होने का दावा करती हैं, वास्तव में धर्म बहुत दूर होती है। बहुत हुआ तो वे यथार्थ धर्म का बाहरी रूप मात्र होती हैं और जैसे जैसे व्यक्ति का आध्यात्मिक उत्थान होता है, वे अपने आप दूर होती जाती हैं। धर्म से हमारा तात्पर्य

है आध्यात्मिक सत्यों का ऐसा समूह, जो काल के निकष पर खरा उतरा है तथा जो धर्मनिष्ठ व्यक्तियों द्वारा प्रत्यक्ष अनुभूति में लाया गया है। धूर्त व्यक्ति तो जीवन के हर क्षेत्र में पाये जाते हैं। खोटे सिक्के का होना ही यह सूचित करता है कि कहीं-कहीं, किसी-किसी के पास खरे सिक्के भी हैं।

इस सन्दर्भ में विज्ञान ने धर्म की बड़ी सेवा की है। उसने निर्ममतापूर्वक धर्म के क्षेत्र में पनपने वाले समस्त झूठ, कपट और ढोंग का पर्दाफाश किया है और अभी भी कर रहा है। हर धर्म में कुछ सारभूत बातें होती हैं और उनके इर्द-गिर्द बहुत सी ऐसी चीजें भी उग आती हैं जिनका धर्म से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। ये बातें दार्शनिक और बौद्धिक विश्लेषण के सामने नहीं टिक पातीं। वे केवल जन-साधारण को आकर्षित करने के लिए होती हैं अथवा अशिक्षित जनसमुदाय को प्रेरणा देने के लिए। परन्तु कालान्तर में इनको अवाँछनीय महत्त्व प्राप्त हो जाता है और ये सारभूत बातों को एक अँधेरे कोने में ठेल देती हैं। उदाहरण के लिए लें। ईसाई धर्म का सौन्दर्य और बल 'सर्मन ऑन द माउन्ट' में है, न कि उसके सृष्टितत्त्व में, न ईसा के पुनर्जीवन की धारणा में और न ईसा को एकमात्र परित्राणकर्ता मानने में। 'सर्मन ऑन द माउन्ट' सारी मानवता के लिए शाश्वत काल तक एक गौरवपूर्ण धरोहर है। परन्तु अनेक ईसाई धर्मवेत्ता ईसा के जीवन के सम्बन्ध में अपनी प्रिय धार-

णाओं का ताना-बना बुनने में लगे हैं। इससे कई संतुलित दिमाग वाले लोग चर्च से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर लेते हैं। अध्यात्म की ओर झुकाव वाले व्यक्ति हरदम संसार के लिए वरदान होते हैं। परन्तु ये धर्मवेत्तागण भलाई की अपेक्षा हानि ही अधिक करते हैं। अपने धर्म को बचाने और अपने मसीहा-पैगम्बरों को ऊँचा उठाने के उत्साह में वे ऐसी दीवालें खड़ी कर देते हैं कि लोग, जिनकी रुचि धर्म की ओर हो सकती थी, उधर जाने से कतरा जाते हैं।

विज्ञान के प्रगति के साथ जब ईसाई धर्मतत्त्वविदों के प्रिय सिद्धान्त एक के बाद एक कटने लगे, तो वे आशंकित हो गये और 'धर्म खतरे में' की आवाज़ उठाने लगे। सृष्टि के बारे में यह सिद्धान्त कि भगवान् ने उसे अपने चमत्कार से शून्य में से सात दिन में पैदा किया, आधुनिक विज्ञान की उपलब्धियों के आलोक में खड़ा नहीं रह सकता। केवल वे ही लोग जो जान-बूझकर अँधे बने रहना चाहते है, इस प्रकार के पुराने सिद्धान्तों से चिपके रहना चाहेंगे। ये समस्त सिद्धान्त यदि उड़ा भी दिये जायँ, तो भी यथार्थ ईसाई धर्म सुरक्षित रहेगा—ईसा का सन्देश विश्व के मानवमात्र को, बिना किसी रंग या सम्प्रदाय के भेद के, सर्वत्र अनुप्राणित करता रहेगा।

अन्य सभी धर्मों पर भी यह बात लागू होती है। हिन्दुओं के पुराण-साहित्य में ऐसी कई बातें हैं जिन पर

विश्वास करने में एक आधुनिक मस्तिष्क कठिनाई अनुभव करेगा। पर इसका अर्थ यह नहीं कि हम उन कथाओं में निहित सुन्दर नैतिक शिक्षाओं की भी उपेक्षा कर दें। रावण के दस सिर और बीस हाथ थे, इसमें भले कोई विश्वास न करें, और न इसमें ही कि वानर-अग्रणी अनुमान की मीलों लम्बी पूंछ थी, पर राम और सीता के चरित्र की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उनका चरित्र अद्भुत है। जो भी मनोयोगपूर्वक रामायण का पाठ करेगा, उसे शक्ति मिलेगी, सान्त्वना और शान्ति मिलेगी। वेदों में भी ऐसी कई बातें हैं जो आधुनिक मनीषियों को अर्थहीन प्रतीत होती हैं। पर इससे कौन इनकार करेगा कि वेदों का आध्यात्मिक सन्देश अनुपम है ? वेदों में हमें उस आध्यात्मिक ऊँचाई का उल्लेख मिलता है जिसे प्राप्त करना हर व्यक्ति के लिए सम्भव है। पर धर्मतत्त्ववेत्तागण इसमें सहमत नहीं होंगे। वे तो उन बातों की बाल की खाल निकालेंगे जो सारभूत नहीं हैं, और इस प्रकार धर्म के यथार्थ मर्म को ही नष्ट कर देंगे।

फिर यह कहना भी ठीक नहीं कि बहुत ऊँची स्थिति को प्राप्त हुआ महापुरुष भौतिक जगत् के सारे नियमों को जान लेता है। ईसा ने भले ही यह जान लिया हो कि संसार में ईश्वर की इच्छा ही पूर्ण होती है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि ईसा संसार का रचनाक्रम भी जानते हों कि सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई, किस प्रकार

ग्रह अपने तारों के चतुर्दिक घूमते हैं, अणु या परमाणु के भीतर और कौन कौनसी रहस्यमय चीजें छिपी हुई हैं ? लोग यहीं पर गड़बड़ी कर बैठते हैं। जिन महापुरुषों की वे श्रद्धा और पूजा करते हैं, उनके ज्ञान की सीमा मानने के लिए वे तैयार नहीं होते। इसलिए वे क्लेश पाते हैं, या फिर कालान्तर में वास्तविकता से परिचित होते हैं। एक बड़े महापुरुष के सम्बन्ध में उनके एक परम भक्त ने एक बार कहा था, 'जब आध्यात्मिक बातों का सन्दर्भ होता है तो मैं उनकी हर बात को सिर नवाकर ग्रहण करती हूँ, किन्तु जब भौतिक विषयों के सम्बन्ध में मुझे कोई निश्चय लेना होता है, तो मैं अपनी बुद्धि का उपयोग करती हूँ।' यह बड़ा संगत और बुद्धिमत्तापूर्ण दृष्टिकोण है। किसी आध्यात्मिक महापुरुष को उस स्तर तक खींचकर न लाओ जो उनका अपना नहीं है, और इस प्रकार उन्हें खिलौना न बनाओ।

धार्मिक जगत् के कई गलत सिद्धान्तों का पर्दाफाश करने अलावा, विज्ञान ने मानवता को एक और वरदान दिया है। वह है वैज्ञानिक दृष्टिकोण का वरदान। उसका अर्थ है कि तुम अपने तईं किसी कथन की सत्यता को परखो और कसौटी पर कसो। किसी बात को यह सोच कर मत मान लो कि अमुक महान् व्यक्ति ने ऐसा कहा है। तुम अपनी बुद्धि का उपयोग करो और देखो कि कि वह बात सत्य है अथवा नहीं। यह सच है कि अध्यात्म के क्षेत्र में बुद्धि का अधिक उपयोग नहीं है,

क्योंकि वह दूर तक नहीं ले जा सकती। तथापि वैज्ञानिक दृष्टिकोण हमें बहुत सी दुर्घटनाओं और फिसलनों से बचा देता है; धूर्तों, पाखण्डियों और कट्टर मतान्धों के हाथों से हमारी रक्षा करता है। वह हमारी नैतिक मांसपेशियों को मजबूत बनाता है और आध्यात्मिक क्षुधा को तीव्र कर देता है तथा, यह सुनने में अजीब सा लगे पर है सच, वह ईश्वर के प्रति हमारी श्रद्धा को भी बढ़ा देता है। धर्म के क्षेत्र में साधारण रूप से यह धारणा पायी जाती है कि आध्यात्मिक जीवन के लिए बुद्धि की कोई उपयोगिता नहीं है और यह कि धर्म के राज्य में उन्नति करने के लिए हममें श्रद्धा, भक्ति और समर्पण का भाव होना चाहिए। निस्संदेह, यह उस व्यक्ति के लिए अवश्य सत्य है जो आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश कर चुका है और जिसके पैर अध्यात्म में दृढ़तापूर्वक जम चुके हैं। परन्तु इस स्थिति को प्राप्त होने से पूर्व यदि व्यक्ति बुद्धि की सहायता को ग्रहण न करे तो उसका जीवन पतवार विहीन नौका के समान हो जाता है। विज्ञान यहाँ पर गम्भीर रूप से लोगों को आगाह कर देता है और वह कई लोगों को तथाकथित धर्म के झाँसे में आने से बचाने में सफल भी हुआ है।

जब विज्ञान की इतनी प्रगति नहीं हुई थी और जब वह अपनी आवाज को बुलन्द करनेवाला और आक्रमक नहीं बना था, तब धर्म ही उस क्षेत्र का भी स्वामी था जहाँ आज विज्ञान ने प्रवेश किया है। पुराने

जमाने में प्रायः हर देश के लोग यही विश्वास करते थे कि भूत-प्रेत ही बीमारियों के कारण हैं और पुरोहित उन्हें दूर करते हैं। इसीलिए बीमार हो जाने पर लोग संसार की चीजों के बदले अलौकिक व्यापारों पर अधिक निर्भर रहा करते थे। पर धीरे-धीरे औषधि-विज्ञान की प्रगति हुई और आज अधिकांश लोग रोगों के निवारण के लिए गिरिजाघर में पादरियों के पास जाने के वजाय डाक्टरों के पास जाते हैं। हमने 'अधि-कांश लोग' इसलिए कहा कि आज भी ऐसे लोग विद्य-मान हैं जो रोग-राई और शारीरिक कष्टों को दूर करने के लिए ओझा-गुनी, पुरोहित-पण्डित और मंत्र-तंत्र में विश्वास करते हैं। कुछ तथाकथित धार्मिक सस्थाएँ हैं–जैसे मानसिक-चिकित्सा, विचार-चिकित्सा, क्रिश्चियन साइन्स, जिनके सम्बन्ध में यह कहना कठिन है कि वे धर्म है या, विज्ञान। अधिक से अधिक, वे उस प्रवृत्ति के अवशेष हैं जो रोग निवारण के लिए मानवी बुद्धि और प्रयासों पर निर्भर रहने के बदले अलौकिक उपायों पर अधिक आस्था रखती है। तथापि, धर्म के क्षेत्र में ऐसे साहसी और बली व्यक्ति हैं जो आध्यात्मिक शक्ति से भौतिक लाभ उठाने की प्रवृत्ति की घोर निन्दा करते हैं। वे केवल आध्यात्मिक विषयों के लिए ही अध्यात्म का उपयोग करते हैं और भौतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए भौतिक साधन अपनाते हैं। उनका दृष्टिकोण यह है कि जव दवा की एक साधारण सी खुराक तुम्हारे

रोग को दूर कर सकती है तो उसके लिए भगवान् से प्रार्थना क्यों करना (और इस प्रकार उन्हें तकलीफ क्यों देना) ! निस्सन्देह, ऐसे ही लोग धर्म के क्षेत्र के सबसे साहसी और सन्तुलित मस्तिष्क वाले व्यक्ति हैं। यदि बहुत दिनों से रोग जाता ही न हो और रोग को दूर करना मानवी प्रयास से बाहर की बात मालूम होती हो, तो बहुत से लोग मानवी दुर्बलता के वशीभूत होकर अलौकिक उपायों की शरण लेंगे। पर इस प्रकार की प्रवृत्ति का धर्म की स्थिरता पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। बीसवीं सदी का मनुष्य जब देखता है कि जिन बातों का निदान आज वह स्वयं कर सकता है उनके लिए उसके पूर्वज पुरोहितों का सहारा लेते थे, तो धर्म पर उसकी श्रद्धा जोरों से हिल जाती है।

यही बात खगोलशास्त्र के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। जब तक उसका पर्याप्त विकास नहीं हुआ था, तब तक खगोल और ज्योतिष दोनों शास्त्र मिले-जुले से थे और पुरोहितों को दोनों क्षेत्रों में समान रूप से अधिकारी माना जाता था। तब पुरोहित ही मानवी दुःखों को दूर करने में समर्थ माने जाते थे। कहते हैं कि मिस्र और बेबीलोन में कृषि को सहायता प्रदान करने की दृष्टि से खगोलशास्त्र का प्रारम्भ हुआ। इस विज्ञान की चमत्कारिक उपलब्धियों ने शीघ्र ही लोगों का मन आकर्षित कर लिया और तथाकथित धर्माचार्यों ने उसका उपयोग अपने धार्मिक स्वार्थ के लिए करना शुरू कर

दिया। पर इस सन्दर्भ में केवल धार्मिक व्यक्ति ही दोषी नहीं थे, बल्कि वैज्ञानिकगण भी कालप्रभाव से अछूते न रह सके। केप्लर जैसा महान् वैज्ञानिक भी अपने खगोलशास्त्र के ज्ञान के बल पर ज्योतिष सम्बन्धी भविष्यवाणियाँ करने लगा था।

आज विज्ञान ने धर्म की सीमा को लगभग बाँध सा दिया है। कुछ अपवाद छोड़ दें, तो लोग आज यह समझने लगे हैं कि यह विज्ञान है, और यह धर्म। वे भौतिक और धार्मिक बातों को मिलाकर गड़बड़ी पैदा नहीं करना चाहते। इससे लाभ यह हुआ कि बहुत से लोगों ने धार्मिकता की आड़ में भौतिक लाभ साधना छोड़ दिया है।

केवल इतना ही नहीं। यह भी कहा जा सकता है कि विज्ञान धर्म की उन्नति में प्रत्यक्ष रूप से सहायता प्रदान कर सकता है। विज्ञान की अधुनातन उपलब्धियों ने विश्व के रहस्य को और गहरा बना दिया है। कहा जाता है कि धर्म का प्रारम्भ बाह्य जगत् के प्रति भय और आदर से होता है। यदि यह सत्य हो तब तो विज्ञान बाह्य प्रकृति के रहस्यों को अधिकाधिक मात्रा में खोल रहा है। एक एटम बम विनाशकारी ताण्डव लीला रच सकता है! पर सोचिये तो सही, कैसा अद्भुत आविष्कार है! एक परमाणु में कितनी शक्ति और ऊर्जा निहित है! आधुनिक विज्ञान कहता है कि विश्व इतना विशाल है कि हमारा यह महान् सौर-जगत् उसकी

तुलना में एक नगण्य कण के समान है ! वह यह भी बताता है कि यह विश्व आश्चर्यजनक तेजी से सतत बढ़ रहा है। कहा जाता है कि विश्व की त्रिज्या प्रकाश की गति से भी अधिक तेजी से लगातार बढ़ रही है और उसकी बढ़ने की यह गति भी सतत बढ़ती ही जा रही है। ठोस उदाहरण ले लें– आकाशमण्डल में सबसे दूर स्थित तारे जो हमारे आधुनिक उपकरणों से देखे जा सकते हैं, हमसे दस करोड़ प्रकाश-वर्ष दूर हैं। यानी, १८६००० मील प्रति सेकण्ड की चाल से चलने वाले प्रकाश को उन तारों तक पहुँचने में १० करोड़ वर्ष से भी अधिक समय लगेगा। आकाशमण्डल में ऐसे 'द्वीप-विश्व' (island universes) हैं जिनकी आपस की दूरी २० लाख प्रकाश-वर्ष दूर है। ऐसे अनन्त विस्तार वाले विश्व में मनुष्य की स्थिति क्या है ? कहा जाता है कि मनुष्य का भौतिक आकार परमाणु और तारे के बीच का है। विश्व के फैलाव की तुलना में तारा एक परमाणु से बढ़कर नहीं है। ऐसा तुच्छ और नगण्य जीव-यह मानव-भला किस बूते पर घमण्ड और आत्मप्रवंचना करता है ? जब वह विश्व के विशाल आकार की कल्पना करता है और तुलना में अपने आकार के बारे में सोचता है तो वह विनत और विह्वल हो जाता है और स्वाभाविक रूप से सृष्टि के रचयिता की कल्पना करने लगता है। आदिम मानवमन अद्भुत जगद्व्यापार को देखकर आश्चर्य से चकित हो जाता रहा होगा। जब

वह देखता रहा होगा कि सूर्य दिन पर दिन पृथ्वी की परिक्रमा किया करता है और चाँद घटता-बढ़ता है–एक दिन वह आँखों से पूरी तरह छिप जाता है और फिर से कुछ दिन बाद पूरा गोल बन जाता है, तो ये सब दृश्य उसे आश्चर्यविह्वल कर देते रहे होंगे और वह बड़ी विनय और श्रद्धा के साथ किसी अज्ञात सत्ता के सम्मुख सिर नवाता रहा होगा। यह सत्य है कि प्राचीन काल में ये सब घटनाएँ मनुष्य के समक्ष जो कवित्व और रहस्य प्रकट करती रही होंगी, उसको विज्ञान ने आज अवश्य छीन लिया है, पर उसने स्वयं क्या अचरज का एक नवीन और बृहत्तर क्षेत्र नहीं खोल दिया है ? एक परमाणु को देखें। उसके भीतर मानों एक समूचा सौर-जगत् निहित है। परमाणु के भीतर रिक्त आकाश का विशाल फैलाव है। इलेक्ट्रान व्यास परमाणु (ऐटम) के व्यास का १/५०००० वाँ है। परमाणु के इस विशाल फैलाव में इलेक्ट्रान न्यूक्लियस (नाभि) के चारों ओर बड़े वेग से घूम रहा है, जैसे आकाश में तारे के चतुर्दिक ग्रह घूमता है। और इलेक्ट्रान की गति भी कितनी तेज है ! एक सेकण्ड में वह करोड़ों चक्कर लगा लेता है !! जब हम विज्ञान की इन बातों को पढ़ते हैं तो लगता है कि हम परी-कथा पढ़ रहे हैं। पर जब हमें मालूम होता है कि ये समस्त बातें प्रयोगशाला में कठोरता से जाँची गई हैं और सही पायी गई हैं, तब हमारा दिमाग चक्कर खाने लगता है।

और तब इन वैज्ञानिक तथ्यों से हम धर्म के साम्राज्य से प्रवेश लेते हैं, क्योंकि तब हम उस सत्ता को जानने की इच्छा करते हैं जिसने इन सब रहस्यों का सृजन किया होगा।

ऐसा सोचना गलत है कि विज्ञान धर्म के रास्ते वाधक बनता है। यथार्थ विज्ञान धर्म की प्रगति में कभी बाधा नहीं डालेगा। थोड़ी देर के लिए मान लें कि विज्ञान धर्म का विरोध नहीं करता बल्कि वह प्रयोग-शाला में परखनली और बुनसेन बर्नर के सहारे प्रयोगों द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध कर देता है, तो पूछता हूँ, क्या बहुत से लोग भगवान् की ओर आ जायेंगे ? कदापि नहीं। कारण यह है कि ईश्वर की खोज के लिए मन की एक भिन्न प्रवृत्ति चाहिए। जब मनुष्य स्वार्थ से ऊपर उठता है और जीवन की क्षणभंगुरता का हृदय में अनुभव करता है, तभी वह अनन्त की चाह करता है। जब तक ऐसा बोध नहीं आता, तब तक वह रोज-मर्रे की चीजों में व्यस्त रहता है। स्मरणातीतकाल से लेकर आज तक कोई भी ऐसा महापुरुष या मसीहा नहीं दिखाई देता जो किसी वैज्ञानिक या दार्शनिक से ईश्वर का प्रमाण पाकर, तब धर्म की ओर झुका हो। वे अपने ही भीतर की प्रेरणा से इस सान्त के पीछे अनन्त को, इस ज्ञात जगत् के अन्तराल में अज्ञात को समझने का प्रयास करने लगे थे। और एक दिन उन्होंने उस अन्तर्निहित सत्ता को देख लिया था और आश्चर्यविभोर मानवता

को वह सब बताया था जो सामान्य मानवी विचार की पहुँच से परे है। वही धर्म का उत्स है। अतएव धर्म अपने अस्तित्व के लिए विज्ञान पर आधारित नहीं रहेगा। न ही विज्ञान मानवजाति की धार्मिक प्रेरणा को कुण्ठित कर सकेगा।

वर्तमान में, विज्ञान बाह्य प्रकृति के नियमों के आविष्कार में व्यस्त है और धर्म अन्तर्जगत् के सत्यों को खोजने में लगा है। अतः स्वाभाविक रूप से दोनों दो विरोधी दिशाओं में जाते हुए प्रतीत होते हैं। शाश्वत की तुलना में मानवजाति आज भी पृथ्वी पर मानो शिशुतुल्य है। कौन जानता है, सुदूर भविष्य में जाकर जब विज्ञान अपना अन्तिम लक्ष्य पा लेगा और धर्म की उपलब्धियों के साथ अपनी उपलब्धियों को तौलेगा तो देखेगा कि जगत् में बाह्य और अन्तः नामक कोई भेद नहीं है, तब देखेगा कि केवल एक ही जगत् है और वह है भाव का। प्रश्न उठ सकता है– किसका भाव ? सो, वह भाव भी नहीं है। वह उस महान् स्वप्नद्रष्टा का स्वप्न है जो अपने सपने का ताना-बाना बुनता है और उसकी ओर देखने में मजा लेता है।

●

ईश्वर न काबा में है, न काशी में है। वह तो घर-घर में व्याप्त है – हर दिल में मौजूद है।

महात्मा गांधी

इमानुएल कान्ट

प्राध्यापक रामेश्वर नन्द

पाश्चात्य दर्शन के क्षेत्र में कान्ट का नाम विश्व-विख्यात है। प्राय सभी विज्ञजन इस मनीषी की रचना से परिचित हैं। उनके जीवन में प्रतिभा और परिश्रम का सुन्दर परिपाक हुआ था। उनका जन्म जर्मनी के कोनिग्सबर्ग नगर में एक सामान्य परिवार में हुआ था उनके पिता जार्ज कान्ट घोड़ों का साज-सामान बनाया करते थे तथा उनकी माता अन्ना रेजिना रयूटर एक सरल हृदया और आस्तिक महिला थीं। कान्ट अपनी माता से अत्यन्त स्नेह करते थे। एक बार अपनी माता का स्मरण करते हुए उन्होंने अपने मित्र से कहा था, "मैं अपनी माता को कभी नहीं भूलूंगा क्योंकि उन्होंने मेरे हृदय में सद्गुणों का बीजारोपण किया और उन्होंने उसे पल्लवित किया। माता की प्रेरणा से मेरे हृदय में प्रकृति-प्रेम जागा। माता के विचारों का मुझपर स्थायी और स्फूर्तिदायक प्रभाव पड़ा है।" अपने माता-पिता के सम्बन्ध में उन्होंने अन्यत्र कहा था, "मेरे माता-पिता धार्मिकता और सदाचार की प्रतिमूर्ति थे।"

कान्ट के समय में शिक्षा का स्वरूप मूलतः धार्मिक था उनकी माता उन्हें किसी धार्मिक संस्था में शिक्षा प्राप्त कराना चाहती थीं। अतः वे ईसाइयों के 'पीए-टिस्ट' सम्प्रदाय द्वारा संचालित सेण्ट जार्ज प्राथमिक शाला में पढ़ने भेजे गये। इसके उपरान्त आगे की शिक्षा

के लिए उन्हें 'कालेजियम फ्रेडेरिसिएनम' में भरती किया गया जहाँ उन्होंने आठ वर्ष तक अध्ययन किया। उन दिनों की शिक्षा में लैटिन भाषा के अध्ययन पर जोर दिया जाता था। हफ्ते में सोलह से बीस घण्टे लैटिन की पढ़ाई होती थी तथा शेष समय में ईसाई-धर्म की घुट्टी पिलाई जाती थी। शनिवार और रविवार को काफी लम्बी और उबा देने वाली प्रार्थना होती थी। आगे चलकर कान्ट की रचनाओं में ईसाई धर्म की याँत्रिकता और ढोंग के प्रति विरोध का स्वर स्पष्ट रूप से उभरा है।

कान्ट ने सत्रह वर्ष की अवस्था में कोनिग्सबर्ग विश्वविद्यालय के दर्शन-विभाग में प्रवेश लिया। उनके पिता की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी अतएव वे ट्यूशन के द्वारा अपना व्यय पूरा किया करते। सम्भवतः आमूल-चूल दरिद्रता में जीवन-यापन करने के कारण ही उनका स्वभाव मितव्ययी हो गया था। प्रारम्भ से ही वे अध्ययनशील और एकान्तप्रिय छात्र थे तथा उनकी रुचि दर्शनशास्त्र के अतिरिक्त भूगोल और गणित में भी थी। इन विषयों पर उन्होंने कुछ ग्रन्थ एवं निबन्धों की रचना की है। तेईस वर्ष की अवस्था में उन्होंने विश्वविद्यालयीन शिक्षा समाप्त कर ली किन्तु इसके साथ ही उनके सामने आजीविका का प्रश्न भी खड़ा हो गया।

इसके बाद के लगभग आठ-नौ वर्ष कान्ट ने निजी शिक्षक के रूप व्यतीत किये। इस अवधि में उन्होंने 'डि

इग्ने' अर्थात् 'अग्नि के विषय में' नामक अपना शोध-प्रबन्ध तैयार कर लिया जो १५ जून सन् १७५५ में विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत कर लिया गया और उन्हें 'मैजीस्टर' (डाक्टर) की उपाधि प्रदान की गई। तैंतीस वर्ष की अवस्था में कान्ट को कोनिग्सबर्ग विश्वविद्यालय में दर्शन-विभाग में अध्यापक कार्य भी मिल गया। इसी बीच उन्हें अन्य स्थानों से अधिक वेतन पर कार्य करने के प्रस्ताव भी प्राप्त हुए, पर उन्हें अपने जन्म स्थान से इतना प्यार था कि वे अन्यत्र कहीं भी नहीं जाना चाहते थे। सन् १७६६ में उन्हें रायल लायब्रेरी में सहायक ग्रन्थपाल का कार्य मिल गया तथा वे 'प्राकृतिक इतिहास' और 'कला-संकलन' विभाग में भी कार्य करने लगे जिससे उनकी आय बढ़ गई और वे कुछ अधिक निश्चिन्तता से अध्ययन-मनन में लग गये।

कान्ट की प्रकृति एवं दिनचर्या अत्यन्त रोचक और शिक्षाप्रद थी। दर्शन के गम्भीर अध्ययन में डूबे रहने वाले इस विद्वान का हृदय अत्यन्त संवेदनशील और उदार था। उन्हें बिलियर्ड तथा ताश का ओंबरे नामक खेल प्रिय था। उनका जीवन अतिशय नियमित था। वे बिला नागा ५ बजे सुबह उठ जाया करते और भ्रमण करने चले जाते। वे रात को दस बजे सो जाया करते थे। इसी प्रकार वे अपने कैण्टर नाम के मित्र से भी नियमित रूप से मिला करते तथा सात बजे सायंकाल लौट आते थे। उनमें समय की पाबन्दी इतनी अधिक थी कि लोग

उन्हें लौटते देखकर घड़ियाँ मिला लिया करते थे।

कान्ट के मित्र कैण्टर महोदय का घर विद्वानों के लिए हमेशा खुला रहता था। वे एक पुस्तक विक्रेता और प्रकाशक थे, इसलिए उनके पास नयी-नयी पुस्तकें आती रहती थीं। फलतः कान्ट को ये ग्रन्थ सहज ही उपलब्ध हो जाते थे। कुछ दिनों तक वे कैण्टर के घर के ही एक कमरे में रहा करते थे पर एक छोटी सी घटना के कारण उन्होंने वह स्थान छोड़ दिया। बात यूँ थी कि उनके कमरे के पास ही एक व्यक्ति ने मुर्गा पाल रखा था। मुर्गे की समय-कुसमय की बाँग से कान्ट के अध्ययन में बाधा पड़ती थी। उन्होंने उस मुर्गे को खरीद लेना चाहा पर जब सारी बात उस व्यक्ति को ज्ञात हुई तब वह अड़ गया और उसने मुर्गा बेचने से इन्कार कर दिया। उसका कहना था कि "अगर कान्ट को अध्ययन करने का अधिकार है तो मेरे मुर्गे को बाँग देने का भी अधिकार है।" इससे बाध्य होकर कान्ट को अपने मित्र कैण्टर का पड़ोस छोड़ देना पड़ा और वे जेल के पास स्थित एक मकान में रहने चले आये। पर यहाँ उन्हें नयी बाधा का सामना करना पड़ा। जेल के कैदी चिल्ला-चिल्लाकर प्रार्थना किया करते थे जिससे कान्ट के अध्ययन में बाधा पहुँचती थी। उन्होंने नगरपालिका के अध्यक्ष को इसकी शिकायत करते हुए लिखा, "यदि ये ढोंगी फेफड़े की पूरी ताकत से चिल्लाने के स्थान पर खिड़कियाँ बन्द कर शान्ति से प्रार्थना किया करें तो

उनके आध्यात्मिक कल्याण में कोई कमी नहीं होगी ।" जेल के अधिकारियों के प्रयास से यह बाधा तो बन्द हो गयी पर एक तीसरी मुसीबत उनके गले पड़ गयी । सड़क से गुजरने वाले ऊधमी लड़के उनके बगीचे में पत्थर फेंककर उनका ध्यान भंग कर दिया करते थे । जब कान्ट ने पुलिस-अधिकारियों को आवश्यक रोकथाम करने का अनुरोध किया तब उन्होंने जवाब दिया कि "जब तक तक आपको कोई चोट न पहुँचे तब तक हम लड़कों को दण्डित नहीं कर सकते ।" यह उत्तर सुनकर कान्ट ने खीझकर लिखा, "इसका अर्थ तो यह है कि जब तक मुझे चोट न पहुँचे या मेरी मृत्यु न हो जाये तब तक कानून उन्हें दण्ड नहीं दे सकता !" पर इससे कोई लाभ नहीं पहुँचा । इन सभी घटनाओं से पता चलता है कि कान्ट एक अन्तर्मुखी व्यक्ति थे तथा उनका सर्वाधिक प्रिय कार्य अध्ययन करना था ।

कान्ट के लेखों और व्याख्यानों के कारण उनका नाम दूर-दूर तक फैल गया था और लोग उन्हें महान् चिन्तक एवं शिक्षाशास्त्री मानने लगे थे । उस समय भी विद्यार्थी अनुशासनहीन थे तथा उनमें अनुशासन बनाये रखना और उनके चरित्र का निर्माण करना एक बड़ी समस्या बन गयी थी । जर्मनी के तत्कालीन शिक्षा मंत्री फ़ेहर कार्ल अब्राहम ने इस सम्बन्ध में कान्ट का सुझाव माँगते हुए उन्हें ८०० टेलर वेतन पर कार्य करने का प्रस्ताव भेजा । उस समय कान्ट को २७६ टेलर

वेतन मिलता था पर वे इस नये प्रस्ताव से सहमत नहीं हुए क्योंकि वे कोनिग्सबर्ग से बाहर नहीं जाना चाहते थे और उनकी दृष्टि में सार्वजनिक प्रशंसा या वैयक्तिक नाम का कोई महत्व नहीं था।

शॉपेनहॉवर, प्लेटो, स्पिनोजा, लाक, ह्यूम, थोरो आदि प्रसिद्ध दार्शनिकों के समान कान्ट भी जीवन भर अविवाहित ही रहे। सत्तर वर्ष की आयु में इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने एक मित्र से कहा था, "जब मेरी आयु विवाह करने की थी तब मेरी परिस्थिति ठीक नहीं थी और जब मैं विवाह कर सकने की स्थिति में हूँ तब मेरी आयु नहीं है।" कान्ट के जीवन में दो महिलाएँ आयी थीं जिनमें एक विधवा थी और दूसरी कुमारी। दोनों के सम्बन्ध में कान्ट शीघ्र ही निर्णय नहीं ले सके थे और उनके अनिश्चय को देखकर दोनों स्त्रियाँ उनसे दूर हो गयी थीं।

कान्ट का स्वास्थ्य सदैव रुग्ण रहा। इस सम्बन्ध में उनके शिष्य जैकमैन ने लिखा है कि "प्रेस से निकले ताजे अखबार से भी उन्हें सर्दी हो सकती थी।" उन्हें उदर-रोग की स्थायी व्याधि थी किन्तु अत्यधिक सावधान रहने के कारण बीमारी बढ़ नहीं पायी। उनकी वेषभूषा तथाकथित दार्शनिकों के समान विचित्र नहीं रहती थी प्रत्युत् उनके वस्त्र अवसरानुकूल और सुरुचिपूर्ण रहते थे।

शिक्षक के रूप में कान्ट अत्यन्त लोकप्रिय थे तथा

विद्यार्थी उन पर अपार श्रद्धा रखते थे। १७ जून सन् १७९७ को जब वे 'रेक्टर' के पद से सेवानिवृत हुए तब विद्यार्थियों ने बाजे-गाजे के साथ एक शोभा-यात्रा निकाली और उन्हें उनके घर तक पहुँचाने आये। उनको मान-पत्र प्रदान किया गया जिसमें विद्यार्थियों ने उनके अध्यापन-कार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए लिखा था, "जब पहले-पहल शिक्षक के रूप में आपका यश फैला था तब से आज तक अठारह हजार से भी अधिक दिन बीत गये हैं, पर अभी भी आपकी आत्मा युवावस्था के समान ही सत्य के उच्चतम शिखर की ओर उड़ रही है। यद्यपि आपका शरीर बहुत दुर्बल हो गया है तथापि ज्ञान का दुर्बोध्य पक्ष आज भी आपकी आत्मा के आलोक से भास्वर हो रहा है।"

अध्ययन और चिन्तन में अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण कान्ट प्राय: समाज की सामान्य औपचारिकता का निर्वाह नहीं कर पाते थे। पत्र-लेखन के सम्बन्ध में वे उदासीन ही रहे। बहुत वर्ष बाद उनके भाई ने पत्र लिखा था– "अनेक वर्ष बिना पत्र-व्यवहार के बीत गये हैं, और तुम हमारे परस्पर एक बार मिलने को अनुचित नहीं समझोगे। हम दोनों वृद्ध हो चले हैं और न जाने कब चल बसें...। अत: भाई! तुम मुझे अपने स्वास्थ्य के बारे में बताओ और लिखो कि तुम्हारे मन में वर्तमान और भावी पीढ़ी का मार्गदर्शन करने के लिये किन महान् विचारों का क्रम चल रहा है।" इस पत्र का

उत्तर कान्ट ने लगभग ढाई वर्ष बाद २६ जनवरी १७९२ को दिया था । उन्होंने लिखा कि वे अत्यधिक व्यस्तता के कारण पत्रोत्तर विलम्ब से दे रहे हैं । अपने पत्र में उन्होंने बताया कि "यद्यपि मैं बाह्यत: अन्यमनस्क दिखता हूँ तथापि कई दिनों के बाद मैं आपकी स्मृति को नवीन कर रहा हूँ । मैं आपके भ्रातृत्वपूर्ण स्नेह के साथ आपकी याद कर रहा हूँ और इसलिये भी कि हम दोनों अभी जीवित हैं । मेरी आयु अभी ६८ वर्ष हो चुकी है तथा मेरी मृत्यु अधिक दूर नहीं है । जहाँ तक मेरे विचारों का प्रश्न है, आप उसे मेरी मृत्यु बाद भी जान सकेंगे । हमारी जो दो बहनें विधवा हो गयी थीं, उनकी देखभाल मैं कर रहा हूँ । तीसरी बहन सेण्ट जार्ज अस्पताल में भरती है । उसकी चिकित्सा का व्यय भी मैं उठा रहा हूँ । हमारे विधवा बहन के पुत्र मकान बनाना चाहते हैं । मैं उनकी सहायता से इसलिए मुख नहीं मोड़ रहा हूँ कि कहीं मैं अपने उस कर्त्तव्य से विमुख न हो जाऊँ जिसके लिए हम अपने माता-पिता के ऋणी हैं ।"

निम्नलिखित दृष्टान्तों से भी कान्ट के संवेदनशील हृदय की हमें झाँकी दिखाई देती है । अपने भाई पास्टर जॉन की मृत्यु होने पर उन्होंने उसके परिवार के लिए २०० टेलर प्रतिवर्ष सहायतार्थ देना स्वीकार कर लिया था और अपने वसीयतनामे में अपने भाई की सन्तानों को बीस हजार टेलर की राशि लिख दी थी । अपनी परित्यक्ता बहन मैरिया एलिजाबेथ की उन्होंने जीवन

पर्यन्त सहायता की थी तथा उसकी सन्तानों के पालन-पोषण के लिये भी स्थायी व्यवस्था कर दी थी। अपने शराबी और धृष्ट नौकर लैम्प को निकालने के पश्चात् भी कान्ट ने अपनी वसीयत में उसे ४० टेलर प्रतिवर्ष पेन्शन के तौर पर देने का निर्देश किया था।

कान्ट एक क्रान्तिकारी दार्शनिक थे। वे धर्म के क्षेत्र में अन्धानुकरण का विरोध करते थे। उनकी मान्यता थी कि धर्म या रूढ़ि में बँधे बिना सत्य को अपनी शुद्ध बुद्धि के द्वारा खोजा जा सकता है। इसका एक अर्थ यह भी था कि वे ईसाई धर्म को उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। उनके जीवन-दर्शन को इन शब्दों में रखा जा सकता है– "आत्मा के तीन आभूषण हैं– स्वस्थ बुद्धि, प्रसन्न हृदय और आत्म-संयम। सिद्धान्त और आचरण की एकरूपता ही जीवन को यथार्थ मूल्य प्रदान करती है। मनुष्य को किसी का दास नहीं होना है। तुम्हारे अधिकारों का हनन किसी व्यक्ति के द्वारा न हो। जिस ऋण को वापस करने का विश्वास तुम्हें स्वयं पर नहीं है, उसे स्वीकार मत करो। किसी से तब तक याचना मत करो जब तक तुम्हारा काम उसके बिना भी चल जाये। पराश्रित और चाटुकार मत बनो, न ही भिखारी बनो। गरीबी से बचने के लिए मितव्ययी बनो। यदि तुम स्वयं दोषी हो तो तुम्हें शिकायत करना शोभा नहीं देता। चाटुकार व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं होता। यदि तुम स्वयं को कीड़े-मकोड़ों के स्तर तक

उतार लोगे, खुद को अनावश्यक रूप से झुकनेवाला बनाओगे तो लोग तुम्हें रौंद डालेंगे। आत्मप्रवंचना एक बड़ी बुराई है। झूठ बोलना महान् अपराध है। झूठा व्यक्ति मनुष्यता के नाम पर कलंक है। वह व्यक्ति चरित्रहीन है जिसका सिद्धान्त और आचरण एक नहीं हैं।"

कान्ट धार्मिक आडम्बर के विरोधी थे तथा उनका मत था कि "जिस व्यक्ति का जीवन और आचरण भ्रष्ट है उसका ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए पूजा करना एक धार्मिक विकार और ईश्वर का उपहास करना है।" प्रार्थना के रहस्य को बताते हुए उन्होंने लिखा है कि ओठों का हिलना ही प्रार्थना नहीं है। प्रार्थना एक आन्तरिक क्रिया है।" कान्ट का चरित्र निष्पाप और कलंकहीन था। वे जीवन में 'शुद्धि' पर अधिक बल देते थे। नैतिकता के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा था कि "धर्म सिद्धान्तों का समूह नहीं है प्रत्युत् वह नैतिक आचरण है। स्वर्ग और नरक सदाचार और भ्रष्टाचार के ही प्रतीक हैं। धर्म की नैतिकता कट्टर सिद्धान्तों और क्रियाओं में निहित नहीं है वरन् प्रत्येक मानवी कर्तव्य को ईश्वरीय आदेश के रूप में समझने में है।"

कान्ट एक सहज मनुष्य थे। सत्य और सदाचरण ही उनका धर्म था। उनके लेखों से पादरीगण अत्यन्त रुष्ट थे तथा उन्होंने तत्कालीन शासक से उनके लेखों

को प्रतिबन्धित करने की माँग की थी पर कान्ट इससे विचलित नहीं हुए। उनके मस्तिष्क से ज्ञान की पुण्य-तोया जीवन भर निर्बाध गति से प्रवाहित होती रही। १२ फरवरी सन् १८०३ में ८० वर्ष की अवस्था में उनका देहावसान हो गया। उनकी कब्र पर उन्हीं के द्वारा रचित ये शब्द लिखे गये–

"The starry firmament above me,
And the moral law within me."

(मेरे ऊपर तारों भरा आकाश।
मेरे भीतर नैतिक नियम का वास।)

यद्यपि कान्ट का भौतिक शरीर आज नहीं है तथापि उनके क्रान्तिगर्भ विचार आज भी हमें प्रभावित करते हैं।

•

सूचना

'विवेक-ज्योति' के निम्नलिखित पिछले अंकों की कुछ ही प्रतियाँ प्राप्य हैं। शेष अंक अब उपलब्ध नहीं हैं। जो इन पिछले अंकों का संग्रह करना चाहते हैं, वे एक रुपये की एक प्रति के हिसाब से खरीद सकते हैं। सुन्दर, उदबोधक, विचारप्रवण लेखों से परिपूर्ण 'विवेक-ज्योति' का हर अंक संग्रहणीय है।

प्राप्य अंकों की सूची

वर्ष १ के अंक ३ और ४। वर्ष २ का मात्र अंक १। वर्ष ३ का मात्र अंक १। वर्ष ४ के चारों अंक। वर्ष ५ का मात्र अंक ३। वर्ष ६ का मात्र अंक २।

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर

(१) उपचार किसका ?

केपरनाम में ईसा मसीह अपने बारह शिष्यों के साथ अल्फियस के पुत्र लेवी के घर भोजन करने गये। भोज में बहुत से भटियारे, कलार तथा दुराचारी भी आये थे। ईसा ने सबके साथ समभाव और स्नेह से बात की और आनन्दपूर्वक भोजन किया। उनके विरोधियों को जब यह समाचार ज्ञात हुआ, तो उन्होंने ईसा के अनुयायियों को ताने दिये– "तुम्हारे गुरु को ये दुराचारी ही मिले बात करने के लिए ? क्या केपरनाम में सभ्य सज्जन नहीं रहता ?" बात जब ईसा मसीह के कान में पड़ी, तो विरोधियों के अज्ञान की बात सोचकर वे खिन्न हो गये। और बोले, "भाई, उनसे पूछो कि वैद्य की आवश्यकता किसे होती है– स्वस्थ व्यक्ति को या रोगी को ? और जितना भी पाप या दुराचार है, वह मानसिक या आत्मिक रोग ही तो है, जिसका निवारण करना ईश्वर के पुत्र का उद्देश्य है।"

(२) सेवक कौन ?

हजरत इब्राहीम बलख के बादशाह थे। उन्होंने एक बार एक गुलाम खरीदा। अपनी स्वाभाविक उदारता से उन्होंने उससे प्रश्न किया–

"तेरा नाम क्या है ?"

"जिस नाम से आप मुझे पुकारें, वही मेरा नाम

होगा," गुलाम ने उत्तर दिया।

"तू क्या खायेगा ?" हजरत ने पुनः पूछा।

"जो आप खिलायें।" उत्तर मिला।

"तुझे किस प्रकार के वस्त्र पसन्द हैं ?"

"जिन्हें आप पहनने दें।"

"तू कौन सा काम करेगा ?"

"जो आप कहें।"

"तेरी कोई इच्छा है ?"

"भला गुलाम की भी कोइ इच्छा होती है, हुजूर !"

बादशाह उसके उत्तरों को सुन बेहद प्रसन्न हुए। तख्त से फौरन उठकर उससे बोले, "तुम सचमुच मेरे उस्ताद हो, क्योंकि तुमने मुझे सिखा दिया कि प्रभु के सेवक को कैसा होना चाहिए ?"

(३) पदप्राप्ति से हानि

चीनी दार्शनिक चुआँग-जू एक एक नदी के किनारे बैठा मछलियाँ पकड़ रहा था, तभी एक राजदूत ने आकर उससे कहा, "सम्राट् ने आपको अपना प्रधान मंत्री नियुक्त किया है।"

"सुना है कि सम्राट् के संग्रहालय में किसी दिव्य कछुए की ढाल सुरक्षित है। बताओ, अगर वह कछुआ जीवित होता, तो क्या पसन्द करता– सम्राट के संग्रहालय की शोभा बढ़ाना, या जहाँ वह पैदा हुम्रा था, वहाँ की दलदल में लोटना ?" चुआंग-जू ने उससे प्रश्न किया।

दूत ने उत्तर दिया, "वह दलदल में लोटना ज्यादा पसन्द करता।"

चुआंग-जू ने कहा, "और मैं भी यही पसन्द करता हूँ। पद पाकर आदमी मनःशान्ति खो बैठता है और कभी-कभी तो अपना जीवन भी। सम्राट् से जाकर कह देना, मुझे दलदल में लोटना ज्यादा पसन्द है।"

(४) शान्तचित्त रहने का अभ्यास

यूनान के प्रसिद्ध तत्ववेत्ता डायोजिनीज अपना जीवन एक माँद में ही बिताते थे। अपने रहने के लिए घर बनाना आवश्यक नहीं समझते थे। एक बार एक युवक ने उन्हें एक पत्थर की मूर्ति के सामने बड़ी देर तक भीख माँगते देखा। उसे बड़ा ही आश्चर्य हुआ और उसने उनसे प्रश्न किया, "पत्थर की मूर्ति से भला आप भीख क्यों माँग रहे हैं ? क्या वह आपको भीख देगी भी ?"

डायोजिनीज ने उत्तर दिया, "मैं इस पत्थर की मूर्ति से भीख माँगकर, भीख न मिलने पर निराश हुए मन को शान्त करने का अभ्यास कर रहा हूँ।"

(५) धर्मगुरु का कार्य

२८ अक्टूबर १९५८ को जब कार्डिनलों की संसद में पोप के निर्वाचन की रस्म पूरी हुई तो बधाई देने के लिए लोगों की बाढ़ पोप जॉन की ओर उमड़ पड़ी। चर्च के पदाधिकारी बधाई देने के उत्साह में इस तरह बह गये कि अन्त में पोप के निजी सचिवों ने उन्हें बैटि-

कन के महासचिव के कार्यालय में बैठाकर दरवाजे पर पोप की पवित्र मोहर लगा दी।

इस मोहर को तोड़ना भयंकर धर्मद्रोह है, किन्तु कार्डिनल और बिशप तक उत्साह के बहाव में उसे तोड़कर घुसने लगे। प्रधान कार्डिनल तिसराँ चिल्ला उठे— "उन्हें रोको . . रोको, वर्ना वे सब धर्म से बहिष्कृत कर दिये जायेंगे।"

यह सुन पोप जॉन मुस्कराये और तिसराँ से मृदुता से बोले, "कोई बात नहीं। आप उनका बहिष्कार कीजिये और पोप की हैसियत से हमारा पहला काम होगा, उन्हें क्षमा प्रदान करना।"

(६) महत्वपूर्ण सिद्धि

धार्मिक प्रकृति की एक शिष्या ने यहूदी धर्मचिन्तक बालाशेम से एक दिन कहा, "मैंने प्रभु-भजन और धर्म-ग्रन्थों के स्वाध्याय में दीर्घकाल बिताया है; किन्तु मुझमें कोई सुधार नहीं हुआ है। मैं अब भी एक अति सामान्य और अज्ञानी औरत ही हूँ।"

बालाशेम ने उत्तर दिया, "तुम्हें यह ज्ञानोदय हुआ है कि तुम एक सामान्य एवं अज्ञानी व्यक्ति हो; क्या यह कम महत्त्व की सिद्धि है ? तुम्हें तो निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण सिद्धि प्राप्त हो चुकी है !"

●

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

प्राध्यापक देवेन्द्र कुमार वर्मा

(गतांक से आगे)

उसी दिन अपराह्न में स्वामीजी हिन्दूधर्म पर अपना लेख पढ़ने वाले थे। समय से काफी पूर्व ही लोगों की भीड़ हॉल में एकत्रित होने लगी थी। 'शिकागो इन्टर ओशन' ने लिखा था, "लोगों की भीषण भीड़ जिसमें अधिकांश महिलाएँ थीं, सभा के प्रारम्भ होने के एक घंटा पूर्व ही दरवाजों से सटकर खड़ी थी क्योंकि यह घोषणा की गई थी कि सुप्रख्यात हिन्दू संन्यासी स्वामी विवेकानन्द जो मेक्लॉग के 'ओथेलो' से प्रतीत होते हैं, वक्तृता देने वाले हैं। महिलाएँ ही महिलाएँ पूरे हॉल में भरी हुई थी।"

सचमुच हिन्दू धर्म पर स्वामीजी के भाषण ने सारे पाश्चात्य देशों की आँखें खोल दी। "भले ही उस भाषण में निहित भाव पहले प्रस्तुत किये गये हों," जैसा कि मेरी लूसी बर्क ने 'न्यू डिस्कवरी' में लिखा है, "पर वे इसके पूर्व कभी इतनी उत्कृष्ट वाग्मिता में प्रस्तुत नहीं किये गये थे और न उनके पीछे दैवी उद्देश्य की वह शक्ति थी। अब तो सबको ईसाई धर्म में दीक्षित करने की धारणा रखनेवाले ईसाइयों के पैरों तले धरती खिसक गई क्योंकि न केवल स्वामीजी के उस लेख ने, वरन् स्वयं स्वामीजी ने यह सिद्ध कर दिया कि हिन्दू धर्म ही ऐसा धर्म है जो दैवत्व की उच्चतम ऊँचाई तक

उड़ सकता है तथा उसे प्राप्त कर सकता है।"

इस लेख में स्वामीजी ने अत्यन्त संक्षेप में हिन्दुओं के दर्शन, मनस्तत्व, साधारण मतवाद, आचार-विचार आदि का परिचय दिया था। इतने कम समय में इस विशाल धर्म की इतनी सारी मौलिक बातें, सहज-सुगम भाषा में एक विदेशी जाति के सम्मुख उपस्थित करना उनके जैसे व्यक्ति के लिए ही सम्भव था; क्योंकि अनेक शाखाओं में विभक्त तथा विदेशियों की आँखों के सामने शृंखलाविहीन सी प्रतीत होनेवाली हिन्दू चिन्तन धारा को, सुदृढ़ दर्शन की नींव पर आधारित एक अखण्ड धर्म के रूप में, इस प्रकार सुस्पष्ट और ओजपूर्ण भाषा में विधर्मियों के सम्मुख इसके पहले और किसी ने प्रस्तुत नहीं किया था। महासभा के मंच पर स्वामी विवेकानन्द ही एकमात्र भारतवासी हों ऐसी बात नहीं थी किन्तु समग्र हिन्दू धर्म के एकमात्र प्रवक्ता वे ही थे। जहाँ दूसरे भारतीय अपने-अपने सम्प्रदाय विशेष की बातें कहते रहे, वहाँ स्वामीजी की वक्तृता का विषय था समग्र सनातन धर्म की सार्वजनीन भावराशि।

हिन्दू धर्म की आभ्यन्तरिक शक्ति के मूलस्रोत वेदान्त की विवेचना करते हुए उन्होंने बताया कि जहाँ विश्व की दूसरी प्राचीन जातियाँ काल के गर्त में समा गयीं वहाँ किस तरह यह हिन्दू जाति, अनेक आक्रमणों और संघर्षों के बावजूद, वेदों की सुदृढ़ भित्ति पर स्थित रहने के कारण, आज भी जीवित है। वेद अनादि और

अनन्त हैं, पर वेद का अर्थ कोई पुस्तक से नहीं है। वह भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा आविष्कृत आध्यात्मिक तत्त्वों तथा नियमों का संचित कोष है। वेदों के आधार पर उन्होंने सृष्टितत्त्व की वैज्ञानिक व्याख्या करते हुए कहा, "सृष्टि का न तो आदि है और न अन्त। विज्ञान के अनुसार पूरे विश्व की शक्ति-समष्टि का परिमाण सदा एक सा रहता है। तो फिर यदि ऐसा कोई समय था जब किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं था, उस समय यह सम्पूर्ण व्यक्त शक्ति कहाँ थी ? कोई-कोई कहते हैं कि ईश्वर में ही वह सब अक्रिय रूप से विद्यमान थी। तब तो ईश्वर कभी निष्क्रिय और कभी सक्रिय है; इससे तो वह विकारशील हो जायगा। प्रत्येक विकारशील पदार्थ यौगिक होता है और हर एक यौगिक पदार्थ में वह परिवर्तन अवश्यम्भावी है जिसे हम विनाश कहते हैं। इस तरह तो ईश्वर की मृत्यु हो जावेगी, जो कि सर्वथा असम्भव एवं हास्यास्पद कल्पना है। इसलिए ऐसा समय कभी नहीं था जब सृष्टि नहीं थी। अतएव यह सृष्टि अनादि है। मैं एक उपमा दूँ, स्रष्टा और सृष्टि मानों दो रेखाएँ हैं जिनका न आदि है न अन्त, और जो समानान्तर हैं। ईश्वर नित्य क्रियाशील महाशक्तिस्वरूप है, सर्वविधाता है, जिसकी प्रेरणा से प्रलय-सागर से नित्यशः एक के बाद एक ब्रह्माण्डों का सृजन होता है, उनका कुछ काल तक पालन होता है और तत्पश्चात् वे पुनः विनष्ट कर दिये जाते हैं।"

वेदोक्त आत्मतत्त्व की विवेचना करते हुए उन्होंने कहा कि आत्मा न तो शरीर है, न मन। शरीर तो मृत्यु को प्राप्त होगा, पर आत्मा नहीं मरेगी। वह नित्य पापमुक्त, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है। वह किसी पदार्थ से सृष्ट नहीं हुई है, क्योंकि सृष्टि का अर्थ है भिन्न-भिन्न द्रव्यों का संयोग; और इस संयोग का अर्थ होता है भविष्य में अवश्यम्भावी वियोग। अतएव अगर आत्मा का सृजन हुआ तो उसकी मृत्यु भी होनी चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा कोई सृष्ट पदार्थ नहीं है। अतः मृत्यु का अर्थ केवल देह-परिवर्तन है। जन्मान्तरवाद और पुनर्जन्मवाद की वैज्ञानिक व्याख्या देते हुए उन्होंने कहा कि वर्तमान जीवन अतीत के कर्मफल से और भविष्य का जीवन वर्तमान के कर्मफल से निर्धारित होता है। अपने किये गये कर्मों के अनुरूप ही देह की प्राप्ति होती है। इस तरह आत्मा जन्म और मृत्यु के चक्र में घूमती कभी ऊपर और कभी नीचे जाती है। और एक दिन आता है, जब जन्म-जन्मान्तर की साधनाओं के फल-स्वरूप भगवद्दर्शन होता है या एकत्व की अनुभूति होती है और आत्मा आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाती है। अतः भगवद्दर्शन के लिए यह आवश्यक है कि यह क्षुद्र 'मैं' और 'मेरा' भाव जो शरीर के साथ युक्त है उसका त्याग हो। इससे जीवात्मा का नाश नहीं होगा वरन् पूर्णता की प्राप्ति होगी। जब स्वार्थपरता का मूलभूत कारण 'मेरे पने' का भाव विनष्ट होता है तब जीव अपने

स्वयं के परिपूर्ण स्वरूप में अधिष्ठित होता है। जब मनुष्य विश्व-प्राण के साथ तादात्म्य स्थापित करता है तब वह मृत्यु के पाश से छूट जाना है। दुःखों का नाश तभी होता है जब मनुष्य आनन्द के साथ एकात्मता लाभ करता है; भ्रम तभी तिरोहित होता है जब मनुष्य चैतन्य के साथ अभिन्नता प्राप्त करता है। यही विज्ञान द्वारा पुष्ट सिद्धान्त है। विज्ञान ने आज सिद्ध कर दिया है कि हम जो इस देह को प्रत्यक्ष और सदा एक सा मानते हैं, वह भ्रम है। हमारा यह भौतिक व्यक्तित्व भ्रममात्र है। वास्तव में इस निरवच्छिन्न जड़सागर में यह क्षुद्र शरीर तरंगवत् सदा परिवर्तित होता रहता है, प्रतिक्षण नवीन होता रहता है। पर हमारा चेतन-अंश कभी परिवर्तनशील या भ्रमात्मक नहीं है, इसलिए यह पूर्णतया सत्य है, और इसी कारण केवल यह अद्वैत ज्ञान ही कि 'मैं एकमेव अद्वितीय आत्मा हूँ' एकमात्र युक्ति-युक्त सिद्धान्त है।

वेद कहते हैं कि आत्मा ब्रह्मस्वरूप है, वह केवल पंचभूतों के बन्धन में बँध गई है और उस बन्धन के टूटने पर वह अपने पूर्व के पूर्णत्व को प्राप्त हो जायेगी। इस अवस्था का नाम मुक्ति है, जिसका अर्थ है स्वाधीनता—पूर्णता, जन्म-मृत्यु, आधि- व्याधि से छुटकारा।

आत्मा का यह बन्धन केवल ईश्वर की दया से टूट सकता है और उसकी दया शुद्ध, पवित्र स्वभाव वाले लोगों को प्राप्त होती है। अतएव पवित्रता ही उनके

अनुग्रह की प्राप्ति का उपाय है। जब उनकी कृपा होती है, तब शुद्ध और पवित्र हृदय में वे आविर्भूत होते हैं। विशुद्ध और निर्मल मनुष्य इसी जीवनमें ईश्वर दर्शन प्राप्त-कर कृतार्थ हो जाता है। तब, "भिद्यते हृदयग्रन्थि-च्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः" – उसकी सारी कुटिलता नष्ट हो जाती है और सारे सन्देह दूर हो जाते हैं।"

इसी तरह मनुष्य के वास्तविक स्वरूप की व्याख्या करते हुए प्राचीन ऋषियों की भाँति स्वामीजी ने श्रोतृ-मंडली को 'अमृत के पुत्र' कहकर सम्बोधित करते हुए कहा, "हे अमृत के पुत्र गण ! कैसा मधुर और आशा-जनक सम्बोधन है यह ! बन्धुओ ! इसी मधुर नाम से मुझे तुम्हें पुकारने दो। हे अमृत के अधिकारी गण ! सचमुच हिन्दू तुम्हें पापी कहना अस्वीकार करता है। तुम तो ईश्वर की सन्तान हो, अमर आनन्द के भागी-दार हो, पवित्र और पूर्ण आत्मा हो। तुम इस मर्त्यभूमि पर देवता हो। तुम भला पापी ? मनुष्य को पापी कहना ही पाप है, वह मानव-स्वभाव पर घोर लाँछन है। उठो ! आओ ! ऐ सिंहो ! इस मिथ्या भ्रम को झटककर दूर फेंक दो कि तुम भेड़ हो। तुम तो जरा-मरण-रहित नित्यानन्दमय आत्मा हो। तुम जड़ पदार्थ नहीं हो। तुम शरीर नहीं हो। जड़ पदार्थ तो तुम्हारा गुलाम है, तुम उसके गुलाम नहीं !"

हिन्दू धर्म का आदर्श बतलाते हुए उन्होंने कहा, "उसका मूलमंत्र है अपरोक्षानुभूति। शब्दों और सिद्धान्तों

के जाल में हिन्दू समय बिताना नहीं चाहता। यदि इस साधारण वैषयिक जीवन के परे और भी कोई अवस्था है, कोई अतीन्द्रिय जीवन है, तो वह उसका प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहता है। यदि उसमें कोई आत्मा है जो जड़ वस्तु नहीं है, यदि कोई दयामय सर्वव्यापी परमात्मा है तो वह उसका साक्षात्कार कर लेना चाहता है; क्योंकि ईश्वर के केवल प्रत्यक्ष दर्शन से ही उसकी समस्त शंकाएँ दूर होंगी।... भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरों या सिद्धान्तों पर विश्वास करना हिन्दू धर्म नहीं है, वरन् हिन्दू धर्म तो प्रत्यक्ष अनुभूति या साक्षात्कार का धर्म है। हिन्दू धर्म का मूल मन्त्र है, 'मैं आत्मा हूँ यह विश्वास होना और तद्रूप बन जाना।'

"अतः हिन्दुओं की सारी साधना-प्रणाली का लक्ष्य है– सतत् अध्यवसाय द्वारा पूर्ण बन जाना, देवता बन जाना, ईश्वर के निकट जाकर उसके दर्शन कर लेना और इस प्रकार ईश्वरसान्निध्य को प्राप्त हो जाना तथा अन्त में समस्त लोकों के पिता उस ईश्वर के समान पूर्ण हो जाना– यही वास्तव में हिन्दू धर्म है।"

यह तो हुई दार्शनिक सिद्धान्त की बात। क्या इसके साथ बहुदेववाद की पूजा का कोई सामंजस्य है? स्वामीजी ने इस पर प्रकाश डालते हुए कहा कि मानव मन की गठन और क्षमता के अनुसार निम्न स्तर की धार्मिक धारणा, पूजा, प्रार्थना और आचार-अनुष्ठान आदि की भी सार्थकता है क्योंकि इनकी सहायता से

धीरे-धीरे ऊपर उठकर अन्त में ईश्वर का सान्निध्य लाभ किया जा सकता है। मन को एकाग्र करने के लिए मूर्ति पूजा भी आवश्यक है, क्योंकि प्रतीकों के सहारे ईश्वर की धारणा करने में सरलता होती है। प्रतिमा तथा आचार-अनुष्ठानादि धर्मजीवन की बाल्यावस्था में सहायक मात्र हैं। ऐसी बात नहीं कि प्रत्येक के लिए इन साधनों की आवश्यकता हो पर बहुतों के लिए यह आवश्यक हुआ ही करते हैं; और जिन्हें अपने लिए इन साधनों की सहायता की आवश्यकता नहीं रहती, उन्हें यह कहने का कोई अधिकार नहीं कि इन साधनों का आश्रय लेना अनुचित है। हिन्दू की दृष्टि में मनुष्य असत्य से सत्य को नहीं जा रहा है, वह तो सत्य से सत्य की ओर, निम्न श्रेणी के सत्य से उच्च श्रेणी के सत्य की ओर अग्रसर हो रहा है। हिन्दू के मतानुसार क्षुद्र अज्ञानी के धर्म से लेकर वेदान्त के अद्वैतवाद तक जितने धर्म हैं, वे सभी, अपने अपने जन्म और अवस्था भेद के अनुसार, उस अनन्त ब्रह्म के ज्ञान तथा उपलब्धि के उपाय हैं और ये उपाय ही उन्नति की सीढ़ियाँ है।

मूर्ति पूजा के विरुद्ध ईसाई पादरियों द्वारा किये गये दुष्प्रचार का खण्डन करते हुए उन्होंने कहा, "यहाँ एक बात बतला देना आवश्यक है कि भारतवर्ष में मूर्ति-पूजा कोई भयावह या जघन्य बात नहीं है, वह व्यभिचार की जननी नहीं है, वरन् वह तो अविकसित मन के लिए उच्च आध्यात्मिक भाव को ग्रहण करने का उपाय है।

अवश्य, हिन्दुओं के बहुतेरे दोष हैं; पर यह ध्यान रखिये कि उनके वे दोष अपने शरीर को दण्ड देने तक ही सीमित हैं; वे कभी भी अन्य धर्मावलम्बियों का गला काटने नहीं जाते। एक धर्मान्ध हिन्दू भले ही चिता पर अपने आपको जला डाले, पर वह विधर्मियों को जलाने के लिए अग्नि कभी भी प्रज्वलित नहीं करेगा, जैसा कि यूरोप में 'इन्क्विजिशन' (Inquisition) के जमाने में ईसाइयों ने किया था! और इस बात के लिए भी हिन्दू धर्म को उतना अधिक दोषी नहीं समझा जा सकता, जितना कि डाइनों को जलाने का दोष ईसाई धर्म पर मढ़ा जा सकता है!"

और इस प्रकार स्वामीजी ने हिन्दू धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों का विवेचन कर अपने भाषण का समापन करते हुए कहा, "हो सकता है कि हिन्दू अपनी सम्पूर्ण योजना के अनुसार कार्य न कर सका हो, पर यदि कभी कोई सार्वभौमिक धर्म हो सकता है, तो वह ऐसा ही होगा जो देश या काल से मर्यादित न हो; जो उस अनन्त भगवान् के समान ही अनन्त हो जिस भगवान् के सम्बन्ध में वह उपदेश देता है; जिसकी ज्योति श्रीकृष्ण के भक्तों पर और ईसा के प्रेमियों पर, सन्तों पर और पापियों पर समान रूप से प्रकाशित हुई हो; जो न तो ब्राह्मणों का हो, न बौद्धों का, न ईसाइयों का और न मुसलमानों का, वरन् इन सभी धर्मों का समष्टि-स्वरूप होते हुए भी जिसमें उन्नति का अनन्त पथ खुला रहे;

जो इतना व्यापक हो कि अपनी असंख्य प्रसारित बाहुओं द्वारा सृष्टि के प्रत्येक मनुष्य का आलिंगन करे और उसे अपने हृदय में स्थान दे, चाहे वह मनुष्य हिंसक पशु से किंचित् ही उठा हुआ, अति नीच, बर्बर और जंगली हो, अथवा अपने मस्तिष्क और हृदय के सद्गुणों के बल पर मानव-समाज से इतना ऊँचा उठ गया हो कि लोग उसकी मानवी प्रकृति में शंका करते हुए देवता के समान उसकी पूजा करते हों। वह विश्व धर्म ऐसा होगा कि उसमें अविश्वासियों पर अत्याचार करने या उनके प्रति असहिष्णुता प्रकट करने की नीति नहीं रहेगी; वह धर्म प्रत्येक स्त्री और पुरुष के ईश्वरीय स्वरूप को स्वीकार करेगा और उसका सम्पूर्ण बल मनुष्य-मात्र को अपनी सच्ची, ईश्वरीय प्रकृति का साक्षात्कार करने के लिए सहायता देने में ही केन्द्रित होगा।

"वही परमेश्वर जो हिन्दुओं का ब्रह्म, पारसियों का अहुरमज्द, बौद्धों का बुद्ध, मुसलमानों का अल्ला, यहूदियों का जिहोवा और ईसाइयों का स्वर्गस्थ पिता है, आपको अपने उदार उद्देश्य को कार्यान्वित करने की शक्ति प्रदान करे। पूर्व गगन में जो नक्षत्र उदित हुआ, कभी धुँधला और दैदीप्यमान होते हुए, धीरे-धीरे पश्चिम की यात्रा करते करते उसने समस्त जगत् की परिक्रमा कर डाली, और अब वह पुनः पूर्व क्षितिज में सहस्रगुनी अधिक उज्ज्वलता के साथ उदित हो रहा है!"

"ऐ स्वाधीनता की मातृभूमि कोलम्बिया! तू धन्य

है। तूने अपने पड़ोसियों के रक्त से अपना हाथ कभी कलंकित नहीं किया, तूने अपने प्रतिवेशियों का सर्वस्व अपहरण कर सहज में ही धनी और सम्पन्न होने की चेष्टा नहीं की। अतएव तू ही सभ्य जातियों में अग्रणी होकर शान्ति-पताका फहराने की अधिकारिणी है।"

(क्रमशः)

●

अपरिचय का अवसान

संतोष कुमार झा

भूख-प्यास से पीड़ित और जर्जरित अंग देश की अभागी प्रजा महाराज लोमपाद के राजप्रासाद के सामने विलाप कर रही थी। राजा स्वयं चिन्तित और दुखी थे। राज्य में वर्षा नहीं हुई थी। भयंकर अकाल पड़ा था।

राजा ने मंत्रियों को बुलवाकर कहा, "अमात्य गण! राज्य में भीषण अकाल पड़ा हुआ है। प्रजा दुःखी है। लोगों के प्राण संकट में हैं। उन सबकी रक्षा का भार अब आप सबके कन्धों पर है। इस विपत्ति से छूटने का शीघ्र उपाय कीजिये।"

विद्वानों ने विचार-विमर्श किया और वे इस निष्कर्ष पर आये कि इन्द्र के प्रकोप के कारण ही वर्षा नहीं हो रही है। अतः किसी उपाय से देवराज इन्द्र को प्रसन्न किया जाय, तभी इस विपत्ति से छुटकारा मिल सकता है। विद्वानों में से एक ने उपाय सुझाया, "अंगराज की सीमा से बाहर एक तपस्वी ऋषि विभाण्डक निवास करते हैं। उनके पुत्र के समान पवित्र तथा निष्कलंक पुरुष इस संसार में दूसरा कोई नहीं है। उनके उस तरुण पुत्र ने आज तक कभी किसी स्त्री को नहीं देखा है। अतः उसका मन स्वाभाविक रूप से ब्रह्मचर्य में स्थित है। किसी भी स्थान पर ऋषिकुमार ऋष्यशृंग

की उपस्थिति परम कल्याणकारी है। यदि ऋषिकुमार को किसी भाँति राज्य में ले आया जाय तो अवश्य ही वर्षा होगी और अकाल की छाया दूर हो जायेगी।

यह बात सुनकर सभी आशान्वित हुए। किन्तु समस्या यह थी कि ऋष्यश्रृंग को उनके आश्रम से निकालकर अंग राज्य की सीमा में लाया कैसे जाय ! एक तो वे स्वयं कठोर तपस्वी, आश्रम की सीमा के वाहर कभी जाते नहीं। दूसरे, उनके पिता कभी किसी अन्य व्यक्ति को अपने पुत्र से मिलने नहीं देते।

परामर्श के पश्चात् विभाण्डक ऋषि के आश्रम की ओर कई गुप्तचर भेजे गये। उन्होंने ऋषि तथा उनके पुत्र की गतिविधियों का ठीक-ठीक पता लगाया और यह जानकारी प्राप्त कर ली कि ऋषिकुमार किस समय आश्रम में अकेले रहते हैं। लौट कर गुप्तचरों ने राजा को विस्तृत समाचार दिया।

राजा ने मन ही मन कुछ योजना बनायी। नगर की सभी वारांगणाओं को राजदरबार में उपस्थित होने का आदेश दिया गया। राजा की आकस्मिक आज्ञा सुनकर वारांगणाएँ राजदरबार में उपस्थित हुईं।

राजा ने आज्ञा के स्वर में कहा, "वारांगणाओं ! प्रजा की रक्षा और राज्य के कल्याण के लिए तुम्हें एक विशेष कार्य करना है। यह मेरी आज्ञा है। किसी भी मूल्य पर तुम्हें यह कार्य सम्पादित करना होगा।... अग राज्य की सीमा के बाहर विभाण्डक ऋषि का

आश्रम है। उनके तेजस्वी पुत्र ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर कठोर तप में निरत हैं। उन्हें आश्रम से निकालकर राजधानी में लाना होगा। किन्तु सावधान ! यह कार्य उनके पिता की दृष्टि बचाकर किया जाना चाहिए अन्यथा ऋषि के शाप से तुम सब का सर्वनाश हो जायेगा।"

कार्य सचमुच कठिन था। एक ओर राजदण्ड का भय ! दूसरी ओर ऋषि-शाप की विभीषिका ! फिर एक ऐसे तपस्वी को लुभाना जिसने आज तक स्त्री को देखा न हो !

कुछ क्षणों के लिए राजसभा में निस्तब्धता छायी रही।

एक अधेड़ वेश्या ने निस्तब्धता भंग करते हुए कहा, "महाराज ! मैं यह दुष्कर कार्य करने का प्रयत्न करूँगी। किन्तु मुझे इस कार्य के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता हो उनकी व्यवस्था करने की कृपा की जाय।"

राजा ने कर्मचारियों को आज्ञा दी, "इस वेश्या की इच्छानुसार वस्तुएँ उसे दे दी जायँ।"

पुरुष की दुर्बलता तथा उसके नग्न पशुत्व से चिरपरिचित वह वेश्या तरुण तपस्वी ऋष्यश्रृंग को लुभाने का उपाय सोचने लगी। वह पुरुष-स्वभाव के विभिन्न रूपों से भलीभाँति परिचित थी। वह जानती थी कि प्रतिकार और चुनौती से पुरुष को जीतना उतना सहज नहीं है। उसे अनुभव था कि स्वीकृति तथा समर्पण के

द्वारा पुरुष की कठोरता को विगलित कर उसके संयम का बाँध ढहा देना कितना सहज है। शरीर-विक्रय का व्यवसाय करने वाली वेश्या यह भली-भाँति जानती थी कि संयमी पुरुष की संयम की दृढ़ प्राचीर को वासना के स्थूल प्रहारों से तोड़ना कठिन होता है। किन्तु यदि सूक्ष्म वासना-शरों द्वारा निरन्तर प्रहार कर प्राचीर को जर्जरित कर दिया जाय, तो स्थूल वासना का एक ही झोंका उसे ढहा देने के लिए पर्याप्त होता है।

बूढ़ी वेश्या की इच्छानुसार एक विशाल नाव पर एक सुन्दर आश्रम बनाया गया। चतुर मालियों ने उसे फल-फूल के पेड़ और पौधों से सजाया। वह आश्रम क्या था, मानो इन्द्र की अमरावती नगरी ही नाव पर उतर आयी थी। वेश्या ने अपनी तरुणी रूपवती कन्या को बुलाया। वह भी अपनी माँ के ही व्यवसाय में प्रवृत्त थी। उसके साथ उसकी और भी कई सहेलियाँ थीं। बूढ़ी वेश्या ने अपने जीवन और व्यवसाय के रहस्यों को बताकर, उन्हें ऋष्यश्रृंग को लुभाने के लिए प्रेरित किया।

वेश्या की आज्ञा से वह सुसज्जित नाव ऋषि विभाण्डक के आश्रम की ओर चल पड़ी। जब आश्रम थोड़ी दूर रह गया तब नाव किनारे लगा दी गई। उसे झाड़ियों के ओट में इस प्रकार छिपा दिया गया कि सहसा कोई उसे देख न सके।

बूढ़ी वेश्या ने स्वयं कुछ दिनों तक गुप्त रीति से ऋषि विभाण्डक की गतिविधियों का अध्ययन किया।

उसने वह समय जान लिया जब ऋष्यश्रृंग आश्रम में अकेले ही रहा करते। एक दिन सुअवसर पाकर उसने अपनी पुत्री को तपस्वी ब्रह्मचारी के वेष में ऋषिकुमार के पास भेजा। पास पहुँचकर ब्रह्मचारी वेषधारिणी वेश्या-पुत्री ने नम्रतापूर्वक अभिवादन करते हुए कहा।

"तपस्वीप्रवर ! मेरा प्रणाम स्वीकार हो।"

ऋष्यश्रृंग की विचारधारा टूटी। सिर उठाते ही उनकी दृष्टि तरुणी वेश्या पर पड़ी। क्षण भर के लिए वे समझ ही न पाये कि उनके सम्मुख कौन खड़ा है। उनके जीवन का यह प्रथम ही अवसर था जब कि उन्होंने किसी नारी को देखा था। तरुणी वेश्या उनके और निकट आ गयी। उसके शरीर से इत्रादि सुगन्धित तैलों की महक निकल रही थी। आश्चर्यचकित ऋष्य-श्रृंग विस्फारित नेत्रों से वेश्या की ओर देख रहे थे। तभी वेश्या ने अपने कोमल हाथों से उनके चरण स्पर्श करते हुए कहा, "ऋषिकुमार ! मैं भी एक तपस्वी ब्रह्मचारी हूँ। आपके तप की सुख्याति सुनकर दर्शनार्थ आया हूँ।"

ब्रह्मचारी के स्पर्श से ऋष्यश्रृंग प्रकृतिस्थ हुए। अब उन्हें शिष्टाचार का ध्यान आया। उन्होंने कहा, "ब्रह्मचारिन् ! मुझे क्षमा करें। मैंने आपके अभिवादन का उत्तर भी नहीं दिया। मेरा प्रणाम स्वीकार कर कर कृपया यह आसन ग्रहण करें।"

वेश्या ने कहा, "तपस्वी ! मैं जिस व्रत का पालन

कर रहा हूँ उसके अनुसार मुझे आपका प्रणाम स्वीकार करने का अधिकार नहीं है। मेरे व्रतानुसार मुझे ही अपनी विधि से आपकी पूजा करनी चाहिए। आप मुझे अपनी पूजा की आज्ञा दें।"

ऋष्यशृंग कुछ उत्तर दें इसके पूर्व ही वेश्या ने उन्हें अपनी ओर खींचकर आलिंगन में बाँध लिया। ऋषि-कुमार हतप्रभ थे। वेश्या ने उन्हें अपने साथ लाये हुए अत्यन्त कोमल आसन पर बैठाया और सुस्वादु पकवान खाने को दिये। मधुर मदिरा पिलायी। उस पेय को पीते ही ऋषिकुमार को अद्‌भुत अनुभूति हुई। वेश्या ने विभिन्न हाव-भावों से उनका मनोरंजन भी किया।

ब्रह्मचारी वेषधारिणी वेश्या ने जब देखा कि अब वृद्ध ऋषि के लौटने का समय हो रहा है तो वह जाने को उद्यत हुई। जाते-जाते उसने पुनः एक बार ऋषि-कुमार को अपने अंक में भर लिया।

नारी मात्र से अपरिचित ऋष्यशृंग का मन कौतूहल से भर गया। वे उस अद्‌भुत ब्रह्मचारी के विषय में ही सोचते रहे। उसकी अनुपस्थिति से उन्हें किसी अज्ञात अभाव का बोध हो रहा था। इस चिन्तन में वे अपना नित्य-कर्म भी भूल गये।

ऋषि विभाण्डक वन से फल मूलादि लेकर लौटे। उन्होंने देखा कि आश्रम की वस्तुएँ अस्त-व्यस्त हैं। यज्ञादि की कोई तैयारी नहीं है, ऋष्यशृंग भी आश्रम में नहीं है। शंकित ऋषि उल्टे पाँव आश्रम के बाहर

आये। आकर उन्होंने देखा कि आश्रम के पीछे एक शिलाखण्ड पर उनका पुत्र चिन्तामग्न बैठा है। पुत्र का मलिन मुख देख ऋषि को चिन्ता हुई। समीप जाकर उन्होंने सस्नेह पूछा, "बेटा ! तुम उदास क्यों हो ? तुम्हें क्या कष्ट है ? मुझसे निस्संकोच कहो।"

ऋष्यश्रृंग ने कहा, "पिताजी ! जब आप वन को गये थे, उस समय यहाँ एक अद्‌भुत तपस्वी आया था। उसका शरीर अत्यन्त कोमल था। उसमें बहुत कम रोम थे। उसका मुखमण्डल तो सर्वथा लोमविहीन था। वक्षस्थल उन्नत था। उसके बिल्व फल की भाँति दो माँसपिण्ड भी थे। वह अपने साथ बहुत सुस्वादु भोज्य पदार्थ तथा पेय भी लाया था। उसने मुझे जो पेय पिलाया, उससे मुझे विचित्र तन्द्रा की अनुभूति हुई। तात ! मेरा मन उसी ब्रह्मचारी के ध्यान में लगा है। मेरे हृदय में उसके सतत सान्निध्य की तीव्र इच्छा हो रही है।"

पुत्र की बातें सुनकर वृद्ध ऋषि स्तब्ध रह गये। उन्हें क्षण भर के लिए ऐसा लगा मानो उनकी जीवन की साधना मिट्टी में मिल गयी। किन्तु दूसरे ही क्षण सजग होकर उन्होंने अपने पुत्र से कहा, "बेटा यह राक्षसों की माया है। वे साधक को साधनाच्युत करने के लिए इस प्रकार का मायावी रूप लेकर आते हैं। अब यदि पुनः कोई मायावी आये तो तुम उससे न मिलना। चलो उठो। नित्य कर्म से निवृत्त हो लें।"

अनुभवी विभाण्डक ने राक्षसी माया की बात कह-कर पुत्र को तो कुछ अंशों में शान्त कर दिया। किन्तु स्वयं उनके मन में विचारों की झंझा उठ रही थी। पुत्र के मुख से ब्रह्मचारी का वर्णन सुन कर उन्हें यह निश्चय हो गया कि उसने अवश्य ही किसी तरुणी स्त्री को देखा है।

किन्तु ?

एक जटिल प्रश्न वृद्ध ऋषि के मन में उठा— क्या एक ऐसे तरुण के मन में भी, जिसने आजीवन किसी स्त्री को न देखा हो, जिसे स्त्री-पुरुष के लिंग-भेद का भी ज्ञान न हो, नारी के लिए आकर्षण और रुचि का जन्म हो सकता है ?

अनुभवी ऋषि का मन उस अतीत की ओर चल पड़ा जब उनके जीवन में भी तारुण्य था। तब वे गुरु-कुल के पवित्र वातावरण में निवास करते हुए कठोर व्रतों का पालन करते थे। अलिंग आत्मतत्त्व की चर्चा तथा उसी का ध्यान उनका नित्य कर्म था। स्त्रियों से यद्यपि उनका परिचय था यथापि आश्रम में उनसे उनका कोई सम्पर्क नहीं था। किन्तु उस समय क्या उनका मन सर्वथा निर्विकार था ? क्या उन्हें वासना से संघर्ष नहीं करना पड़ा था ? कितनी बार उन्होंने अपने गुरुदेव से प्रार्थना की थी, "भगवन् ! यह काम तो मारे नहीं मरता !"

उनके कानों में वर्षों पूर्व उच्चरित गुरु की गम्भीर

वाणी पुनः प्रतिध्वनित हो उठी, "वत्स ! अद्वैत ब्रह्मज्ञान की अग्नि से ही काम का बीज नष्ट होता है। उसके पूर्व की सभी अवस्थाओं में, सूक्ष्म रूप में ही क्यों न हो, काम अवश्य रहता है।"

ऋषश्रृंग कामिनी से अपरिचित थे, काम से नहीं। अत: पुत्र के कल्याण के लिए वृद्ध ऋषि ने उसे सावधान कर देना ही उचित समझा। समझाते हुए पुत्र से उन्होंने कहा, "बेटा ! अब यदि वह मायावी ब्रह्मचारी आये तो उससे न मिलना उसकी ओर आँख उठाकर भी न देखना . . . अन्यथा तुम्हारी साधना भंग हो जायेगी।"

दूसरे दिन ऋषि विभाण्डक पुन: वन को चले गये। वेश्या तो प्रतीक्षा कर ही रही थी। जब विभाण्डक थोड़ी दूर चले गये, तो वह इठलाती हुई ऋष्यश्रृंग के पास आयी और बड़े हाव-भाव से उनका अभिवादन किया।

किन्तु यह क्या ? ऋष्यश्रृंग ने उसके अभिवादन का उत्तर तक नहीं दिया ! उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा !! ऋष्यश्रृंग के कानों में पिता की चेतावनी पूर्ण आज्ञा के शब्द गूँज रहे थे – 'मायावी ब्रह्मचारी से न मिलना,' 'उसकी ओर दृष्टिपात भी न करना।'

क्षण भर के लिए वेश्या कुछ अप्रतिभ सी हुई। किन्तु दूसरे ही क्षण उसने पुनः हावभाव के साथ ऋषिकुमार का अभिवादन किया। इस बार उसके नुपूर और कंगन झनझना उठे। उसने मधुर स्वर में कहा, "ऋषि-

कुमार ! क्या मेरी उपस्थिति से आपकी साधना में विघ्न पड़ता है ? क्या आपको अपनी साधना के भंग होने का भय है ?"

ऋष्यश्रृंग ने प्रतिवाद किया, "क्या कहा ? मुझे साधना-भंग का भय ! नहीं, मेरी साधना भंग नहीं हो सकती। मैं तो केवल पिताजी की आज्ञा का पालन मात्र कर रहा हूँ।"

व्यंगात्मक स्वर में वेश्या ने पूछा, "क्या आज्ञा दी है, कुमार, आपके पिताजी ने ?"

ऋष्यश्रृंग बोले, "पिताजी ने कहा है कि मायावी ब्रह्मचारी से न मिलना। न ही उसकी ओर आँख उठाकर देखना। अन्यथा... तुम्हारी...।"

वेश्या ने कटाक्ष करते हुए पूर्ति की, "तुम्हारी साधना भंग हो जायेगी, यही न कुमार ?"

ऋषिकुमार का अहंकार जाग उठा; उन्होंने साभिमान कहा, "नहीं ब्रह्मचारी ! मेरी साधना भंग नहीं हो सकती। मैं अवश्य ही तुमसे मिलूँगा।"

वेश्या अपनी विजय पर गर्वोन्नत हो उठी। उसका तीर ठीक निशाने पर बैठा था। उसने आह्लादपूर्वक ऋष्यश्रृंग को अपने अंक में भर लिया।

आज ऋष्यश्रृंग को उस आलिंगन में वैचित्र्य के बदले कौतूहल का अनुभव हुआ। आज वेश्या उन्हें दूर तक घुमाने ले गयी। भाँति-भाँति से उनका मनोरंजन किया। वृद्ध ऋषि के लौटने का समय होने लगा। अब

वेश्या ने वापस जाने की इच्छा प्रकट की। पिछली बार वेश्या ने पुनः आने की बात कही थी। किन्तु आज ऋष्यश्रृंग ने ही उससे फिर आने का आग्रह किया। तपस्वी ऋष्यश्रृंग के मन को चंचल बना, वेश्या अपनी सफलता पर इठलाती हुई चली गयी।

थोड़ी ही देर में विभाण्डक लौट आये। आज उनका पुत्र उत्साह एवं सजगता से कार्य कर रहा था। वृद्ध ऋषि प्रसन्न और निश्चिन्त हुए।

किन्तु ऋष्यश्रृंग की कार्य-तत्परता के पीछे उस ब्रह्मचारी के प्रति अपनी आसक्ति को छुपाने का प्रयत्न था। पिता कहीं उसके हाव-भाव से यह न जान लें कि आज पुनः उनके पुत्र ने उस मायावी ब्रह्मचारी से भेंट की है, इसीलिए वह आज विशेष उत्साहपूर्वक यज्ञादि के कार्यों में लगा था।

संयम की लगाम एक बार ढीली हो जाने पर फिर उसे कसना बहुत कठिन होता है। अगले दिन वेश्या फिर आयी। आज ऋषिकुमार उसकी प्रतीक्षा में थे। उसके आते ही आगे बढ़कर उन्होंने उसका स्वागत किया और कहा, "ब्रह्मचारिन्! बड़ी देर से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा था। आओ, हम कहीं दूर चलें जहाँ पिताजी की दृष्टि हम पर न पड़ सके।"

वेश्या का दाँव व्यर्थ नहीं गया। उसने देखा, ऋष्यश्रृंग उसके पाश में बँधते जा रहे हैं। वह उन्हें नाव में बने कृत्रिम आश्रम में ले गयी। उस आश्रम का अनुपम सौंदर्य

देख ऋष्यश्रृंग मुग्ध हो गये। वहाँ वेश्या की और भी कई तरुणी सहेलियाँ थी। सभी ने ऋष्यश्रृंग का स्वागत किया और वे भाँति-भाँति से उनका मनोरंजन करने लगीं।

बूढ़ी वेश्या की आज्ञा से नाव खोल दी गयी। नारी मात्र से अपरिचित बालब्रह्मचारी ऋष्यश्रृंग अब कामिनी से चिर परिचित हो चुके थे। उन्हें अपने पिता के आश्रम में लौट आने का ध्यान ही न रहा। नाव के आश्रम में वे वेश्या और उसकी सहेलियों के साथ आमोद-प्रमोद में निमग्न हो गये। धीरे-धीरे नाव महाराज लोमपाद की राजधानी में पहुँची। अब ऋष्यश्रृंग अंगराज के राजप्रासाद में थे। इन्द्र देव ने कृपा की और अंग देश को मूसलाधार वर्षा से प्लावित कर दिया। राजा के आग्रह पर ऋष्यश्रृंग ने उनकी पुत्री शान्ता को पत्नी के रूप में स्वीकार कर लिया। तपस्वी के नारी से अपरिचय का अवसान भोगैश्वर्य्य की आसक्ति में हुआ।

और यह सब हुआ था केवल एक दृष्टिपात से। मानवमन के मर्मज्ञ ऋषि विभाण्डक ने अपने पुत्र को सावधान कर दिया था, उसे चेतावनी दी थी– 'उस मायावी ब्रह्मचारी की ओर दृष्टिपात भी न करना'!... किन्तु ऋष्यश्रृंग पिता की आज्ञा का पालन न कर सके। वासना के आवेग का दमन यदि हम प्रारम्भ में ही न कर दें, तो वह हमें पराभूत कर देती है। उसके आकर्षण के पाश में बँध जाने के पश्चात् हम उस पर विजय नहीं प्राप्त कर सकते।

प्रश्न– साधना करते करते कभी कभी मन में बड़ी शुष्कता आ जाती है। क्या यह अधःपतन का लक्षण है ?

–गिरिराजकिशोरी, दिल्ली

उत्तर– नहीं। आध्यात्मिक जीवन में उन्नति कभी सरल रेखा में नहीं होती। यह तरंगवत् होती है। कभी कभी हमारा मन बड़ा प्रफुल्ल होता है और उस समय हमें ऐसा लगता है कि लक्ष्य अब अधिक दूर नहीं है। फिर अचानक अकारण ही मन अवसाद से भर जाता है और हमें बड़ी शुष्कता मालूम पड़ती है। उस समय साधन-भजन बिलकुल नीरस मालूम पड़ता है और हम कोशिश करके भी मन को थोड़ी देर के लिए भी शान्त नहीं कर पाते। यह मन का स्वभाव है। यह अधःपतन नहीं है। जैसे हम जब किसी पहाड़ की चोटी पर चढ़ते हैं तो कई बार हमें ढलान में से जाना पड़ता है। इसका मतलब यह नहीं कि हम नीचे उतर रहे हैं, भले ही ऊपरी दृष्टि से ऐसा लगे। वास्तव में हम ऊपर बढ़ने के लिए ही नीचे उतरते हैं। रास्ता उसी ढलान में से होकर जाता है। ठीक यही बात साधना के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। आध्यात्मिक जीवन में नीचे उतरने

की कोई बात ही नहीं है बशर्ते कि हम नियमपूर्वक साधना में लगे हों। जब मन के अवसाद का समय आवे, तो हम हताश न हों, बल्कि यह धारणा भीतर पक्की करें कि थोड़े समय बाद यह अवसन्नता निकल जायेगी। हाँ, हम अवसाद से समझौता न करें। सदैव अपने आपसे कहते रहें– 'मेरा आदर्श ऊँचा है। वहाँ मुझे पहुँचना ही है। इस ढलान में ही मुझे बैठ नहीं जाना है।' इस प्रकार की सतर्कता और निष्ठा हमें सतत ऊपर उठाती रहेगी। एक दिन ऐसी स्थिति हो जायेगी कि शुष्कता सदैव के लिए सूख जायेगी और हमारा अन्तर अवशेष रस से सरोबार हो जायेगा।

प्रश्न– कुछ लोग कहते हैं कि ध्यान के अभ्यास के लिए जीवन को बदलने की आवश्यकता नहीं। तो क्या आध्यात्मिक प्रगति के लिए शुद्ध नैतिक जीवन आवश्यक नहीं है?

–रामगोपाल भट्ट, उदयपुर

उत्तर– आवश्यक है। जीवन की शुद्धता के बिना अध्यात्म के क्षेत्र में प्रवेश नहीं मिल पाता। जब हमारी सारी शक्तियाँ एकत्र होकर ईश्वर की ओर जाती हैं तभी उनकी अनुभूति होती है। ईश्वर की अनुभूति या ध्यान की तन्मयता में हमारे मन की अशुद्धि ही बाधक है। मन शुद्ध हुआ कि लक्ष्य प्राप्त हो गया। इसीलिए श्रीरामकृष्ण कहते थे कि शुद्ध मन और शुद्ध आत्मा एक हैं। यदि जीवन की क्रियाएँ शुद्ध न हो तो मन भी शुद्ध नहीं रह पाता। मन की अशुद्धता के कारण ध्यान के अभ्यास में गति नहीं आ पाती। अत: आवश्यक है कि हम ध्यान का अभ्यास भी करें तथा साथ ही जीवन को भी शुद्ध बनाने का प्रयास करें।

●

लेखक परिचय

● स्वामी प्रभवानन्द संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में रामकृष्ण मिशन की 'वेदान्त सोसायटी आफ सदर्न कैलिफोर्निया' नामक हालीवुड शाखा के अध्यक्ष हैं। इनका यह पठनीय लेख उन्हीं के द्वारा सम्पादित 'वेदान्त एंड दि वेस्ट' नामक अंग्रेजी द्वैमासिक से साभार गृहीत हुआ है।

● श्री वी. वी. गिरि भारत के उपराष्ट्रपति हैं। उन्होंने प्रस्तुत व्याख्यान २३ फरवरी, १९६९ को रामकृष्ण मिशन, नई दिल्ली द्वारा आयोजित श्रीरामकृष्ण-जयन्ती-समारोह के उपलक्ष में अध्यक्षीय भाषण के रूप में अंग्रेजी में दिया था।

● डा. नरेन्द्रदेव वर्मा, एम. ए., पीएच. डी., रायपुर के शासकीय संस्कृत स्नातकोत्तर महाविद्यालय में असिस्टैंट प्रोफेसर हैं।

● स्वामी पवित्रानन्द संयुक्तराष्ट्रसघ अमेरिका में रामकृष्ण मिशन की 'वेदान्त सोसायटी' नामक न्यूयार्क शाखा के अध्यक्ष हैं। उनका प्रस्तुत लेख रामकृष्ण मिशन द्वारा प्रकाशित 'प्रबुद्ध भारत' नामक अंग्रेजी मासिक से साभार लिया गया है।

● श्री रामेश्वर नन्द, एम. ए., गोंदिया (महाराष्ट्र) स्थित कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय में प्राध्यापक हैं।

● श्री शरद्चन्द्र पेंढारकर रायपुर के डाक और तार विभाग में लिपिक हैं।

● श्री देवेन्द्रकुमार वर्मा, एम. एससी., रायपुर के शासकीय स्नातकोत्तर विज्ञान महाविद्यालय में प्राध्यापक हैं।

● श्री सन्तोषकुमार झा, एम. ए., एलएल. बी, स्थानीय पंचायती राज प्रशिक्षण केन्द्र के प्राचार्य हैं।

●

आश्रम समाचार

(१ दिसम्बर १९६८ से २८ फरवरी १९६९ तक)

साप्ताहिक सत्संग

रविवासरीय गीता – प्रवचनमाला के अन्तर्गत स्वामी आत्मानन्द ने आलोच्य अवधि में १, ८, १५, २२, २९ दिसम्बर, ५ जनवरी, तथा २, ९, १६, २३ फरवरी को प्रवचन दिया। इस प्रकार वे अब तक गीता पर कुल ५६ प्रवचन कर चुके हैं। गीता के दूसरे अध्याय के ४७ वें श्लोक तक चर्चा हो पायी है।

गुरुवासरीय सत्संग के अन्तर्गत ५ दिसम्बर, २ जनवरी, ६ एवं २७ फरवरी को प्रा. देवेन्द्र कुमार वर्मा का 'हिन्दू धर्म' पर, १९ दिसम्बर, ३० जनवरी और २० फरवरी को डा. अशोक कुमार बोरदिया का 'पातंजल योगसूत्र' पर; तथा २६ दिसम्बर और १३ फरवरी को श्री सन्तोषकुमार झा का श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' पर प्रवचन हुआ।

आश्रम में अन्य कार्यक्रम

८ मार्च को संसद सदस्य डा. जी. एस. मेलकोटे का 'Scientific Yoga Therapy' विषय पर बड़ा रोचक व्याख्यान हुआ। अपनी चर्चा में कतिपय पौराणिक प्रतीकों की डा. मेलकोटे ने वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की।

श्रीरामकृष्ण जयन्ती

१८ फरवरी उल्लास का पर्व था। भगवान् श्रीरामकृष्णदेव की १३४ वीं जन्मतिथि के उपलक्ष में विशेष पूजा-भजन आदि का आयोजन था। ब्राह्ममुहूर्त में मंगल आरती के पश्चात् सामूहिक प्रार्थना और ध्यान। तदनन्तर भजन-गीत और मध्याह्न में फिर से आरती, प्रार्थना और प्रसाद-वितरण। सन्ध्या में आरती और प्रार्थना के पश्चात् एक सार्वजनिक सभा का आयोजन

किया गया था, जिसकी अध्यक्षता शासकीय मेडिकल कालेज के शरीर-व्यवहार-विज्ञान विभाग के अध्यक्ष डा. आर. बी. माथुर ने की। इस अवसर पर डा. अशोक कुमार बोरदिया ने 'रामकृष्ण भावधारा की नवीनता' पर, डा. नरेन्द्रदेव वर्मा ने 'गार्हस्थ्य एवं संन्यास के मिलनबिन्दु श्रीरामकृष्ण' पर, डा. लक्ष्मण प्रसाद मिश्र ने 'समन्वयाचार्य श्रीरामकृष्ण' पर तथा प्राध्यापक देवेन्द्र कुमार वर्मा ने 'भक्तवत्सल श्रीरामकृष्ण' पर अपने विचार व्यक्त किये।

श्री माँ सारदा जयन्ती

१२ नवम्बर को श्री माँ सारदा की ११६ वीं जयन्ती बडे धूमधाम से मनायी गयी। ब्राह्ममुहूर्त में मंगल–आरती हुई, तदनन्तर सामूहिक प्रार्थना और ध्यान का कार्यक्रम हुआ। तत्पश्चात् चण्डीपाठ और भजन-गीत हुए। मध्याह्न में पुनः आरती, प्रार्थना और प्रसाद-वितरण। सन्ध्या-आरती और प्रार्थना के उपरान्त एक सार्वजनिक सभा स्वामी आत्मानन्द की अध्यक्षता में हुई। इस अवसर पर विज्ञान महाविद्यालय की प्राध्यापिका डा. (श्रीमती) उषा टंडन, महिला महाविद्यालय की प्राध्यापिका श्रीमती विद्या गोलवलकर तथा संस्कृत महाविद्यालय के प्राध्यापक डा नरेन्द्रदेव वर्मा ने श्री माँ सारदा के क्रमशः आदर्श पत्नी, आदर्श जननी और आदर्श गुरु रूप पर प्रकाश डाला। सारा दिन एक महान् उल्लास में व्यतीत हुआ।

स्वामी विवेकानन्द जयन्ती

स्वामी विवेकानन्द का १०७ वाँ जयन्ती–महोत्सव ३ जनवरी से लेकर २६ तक मनाया गया। २४ दिनों तक लगातार चलने वाले इन विभिन्न कार्यक्रमों में हजारों की संख्या में लोग प्रतिदिन उपस्थित होते थे। मानो एक धार्मिक मेला ही लग गया था। ३ से लेकर १० जनवरी तक माध्यमिक एवं उच्च-

तर माध्यमिक विद्यालयों तथा महाविद्यालयों के छात्र-छात्राओं के लिए पाठ-आवृत्ति, भाषण तथा वाद-विवाद प्रतियोगिताएँ आयोजित की गयी थीं। इन समस्त प्रतियोगिताओं में विजेता-संस्थाओं के लिए रनिंग शील्ड तथा प्रथम दो विजेताओं के लिए व्यक्तिगत पुरस्कार रखे गये थे। छात्र-छात्राओं का उत्साह देखते ही बनता था।

११ जनवरी को स्वामी विवेकानन्द का जन्मदिन था। ब्राह्ममुहूर्त में मंगल-आरती एवं तदनन्तर सामूहिक प्रार्थना और ध्यान का कार्यक्रम था। सुबह ९ से ११ बजे तक भजन-गीत तत्पश्चात् पुनः आरती एवं प्रार्थना तथा प्रसाद वितरण।

सन्ध्या-आरती एवं प्रार्थना के उपरान्त सार्वजनिक सभा हुई जिसमें प्रमुख अतिथि के रूप में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सरसंचालक श्री मा. स. गोलवलकर (गुरुजी) पधारे थे। सभा की अध्यक्षता हिन्दी-जगत् के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यिक डा. बल-देव प्रसाद मिश्र ने की।

डा. अरुणकुमार सेन के गायन से कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। स्वामी आत्मानन्द ने आश्रम की प्रगति एवं प्रमुख गतिविधियों के सम्बन्ध में जानकारी दी। महन्त लक्ष्मीनारायणदास ने अपने स्वागत-भाषण में प्रमुख अतिथि महोदय से अपने पुराने सम्बन्धों का उल्लेख किया।

प्रमुख अतिथि महोदय ने 'श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेका-नन्द' पर अपने ओजपूर्ण और धाराप्रवाही भाषण में श्रीरामकृष्ण परमहंस को युगावतार निरूपित करते हुए कहा, "हमारी इस पवित्र भूमि पर जब जब धर्म का नाश हुआ है तब तब धर्म के परित्राण के लिए भगवान् समय और आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट हुए और अपने सन्देश को जन-जन में प्रसा-रित करने अपना साथी भी साथ लाये। श्रीरामकृष्णदेव के साथ

ही नरेन्द्र के नाम से एक ऐसा नर भी प्रकट हुआ जो धर्म की ध्वजा लेकर काल को निरस्त करता हुआ सम्पूर्ण विश्व में ज्ञान को प्रस्थापित करते हुए गया।"

गोलवलकरजी ने आगे चलकर कहा, "श्रीरामकृष्णदेव ने हमें सेवा का एक नया मंत्र दिया। भारतीय परम्परा में बताया गया है कि मनुष्य को भगवान की प्राप्ति के लिए प्रयास करना चाहिए। एतदर्थ उपासना करो, बताने वाले लोग पहले थे, आज भी हैं, किन्तु नर में नारायण को देखकर उसकी सेवा के माध्यम भगवान् को पाने की सीख देने वाले सर्वप्रथम श्रीरामकृष्ण ही थे। इतना बड़ा समाज दीन-दु:खी अवस्था में पड़ा है, लोगों को खाने के लिए रोटी का टुकड़ा तक नहीं है, उनकी ओर कोई देखने को तैयार नहीं है। पण्डितों और अन्य धर्म नेताओं ने कह दिया कि यह उनके अपने कर्मों का फल है। पर श्रीरामकृष्ण ने उन्हें दरिद्रनारायण की संज्ञा दी। उन्होंने कहा कि भगवान् की उपासना करनी है तो मनुष्य में करो। कहा– दरिद्रदेवो भव, अज्ञानदेवो भव, मूर्खदेवो भव। स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरुदेव की इस सिद्धान्त को सम्पूर्ण विश्व में फैलाया।"

इस अवसर पर बोलते हुए स्वामी आत्मानन्द ने कहा कि स्वामी विवेकानन्द ने स्वाभिमानहीन भारत को आत्मप्रत्यय प्रदान किया और इस प्रकार दीर्घकाल से प्रसुप्त भारत की राष्ट्रीय चेतना को झकझोरकर उठा दिया। उन्होंने आत्माभिव्यक्ति के उपाय प्रस्तुत किये जिन पर चलकर भारत एक बार फिर से अपनी खोई हुई पुरातन गरिमा को प्राप्त कर सकता है।

अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए डा. बलदेव प्रसाद मिश्र ने कहा कि श्रीरामकृष्ण देव भगवान् श्रीकृष्ण के समान ही ज्ञान और भक्ति के स्रोत थे। उनसे प्रेरणा प्राप्त कर स्वामी विवेकानन्द ने उनके कार्यों को पूर्ण किया। विषम परिस्थितियों में

उनके द्वारा देश के लिए किया गया कार्य सदैव स्मरणीय रहेगा।

अन्त में विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अन्तर्गत आयोजित विभिन्न प्रतियोगिताओं में विजयी संस्थाओं और छात्र-छात्राओं को प्रमुख अतिथि महोदय ने पुरस्कार वितरित किया। श्रोताओं की सख्या लगभग ६ से ७ हजार तक थी।

१२ जनवरी को लाहिड़ी उपाधि महाविद्यालय, चिरमिरी (सरगुजा के प्राध्यापक श्रीवास्तव के निर्देशन में वहीं के छात्रों ने स्वामी विवेकानन्द के जीवन पर आधारित 'पूर्व और पश्चिम' नामक नाटक को सफलतापूर्वक अभिनीत किया। इस नाटक में स्वामी विवेकानन्द के जीवन के उन उन अंशों को प्रस्तुत किया गया था जब वे न्यूयार्क में वेदान्त की ध्वजा फहराकर ब्रिटेन पहुँचे थे और वहाँ भारतीय विद्याविद् महापण्डित मैक्समूलर से मिले थे। वह एक ऐसा समय था जब ईसाई पादरी स्वामीजी की निन्दा करते नहीं अघाते थे और भेड़िये के समान उनका पीछा करते रहते थे। प्रस्तुत नाटक में स्वामीजी और प्राध्यापक मैक्समूलर के वार्तालाप को प्रस्तुत किया गया था और बताया गया था कि यदि पश्चिम अपने अस्तित्व को बचाना चाहता है तो उसे भारत की शरण में जाना होगा।

नाटक के उपरान्त हिन्दी में 'गीत रामायण' का आयोजन किया गया इसके प्रस्तोता थे डा. अरुण कुमार सेन। अपने सह-योगियों के साथ उन्होंने विविध राग-रागनियों में सम्पूर्ण राम-कथा का गायन किया। पूरी रामायण को हिन्दी गीतों में बाँध-कर प्रस्तुत करना सचमुच एक क्रान्तिकारी प्रयास है। श्रोतागण मुग्ध होकर इस रस-माधुरी का का पान करते रहे थे।

१३ जनवरी को एक अनूठा कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया। वह था— 'स्वर्गस्थ कवि-आत्माओं का भूतल-आगमन'। प्राचीन-काल से लेकर आज तक के प्रमुख कवियों की आत्माओं ने

अवतरित होकर अपने आधारों के माध्यम से अपने जीवनदर्शन को स्पष्ट किया और ओजप्रवण वाणी में अपने व्यक्तित्व और कृतित्व को प्रस्तुत किया। इस अनुपम अवतरण की अध्यक्षता देवर्षि नारद के आधार स्वामी आत्मानन्द ने की। स्वामी आत्मानन्द ने अत्यन्त सम्मोहक रूप से १२ प्राचीन कवियों की आत्माओं का आवाहन उपस्थित आधारों में किया और उनसे जनता-जनार्दन को अपने जीवनकार्य से परिचित करने का अनुरोध किया।

दुर्गा महाविद्यालय, रायपुर के प्राचार्य श्री रणवीर सिंह शास्त्री में वाल्मीकि की आत्मा अवतरित हुई और धाराप्रवाह संस्कृत भाषा में अपने जीवनदर्शन को स्पष्ट करने लगी। देवर्षि नारद ने जनसमुदाय को ध्यान में रखते हुए उनसे हिन्दी भाषा में अपना वक्तव्य देने का अनुरोध किया और आदिकवि वाल्मीकि ने अपने अपने युग के वातावरण को स्पष्ट करते हुए अपने कृतित्व की महत्ता का दर्शन कराया।

दुर्गा महाविद्यालय के प्राध्यापक श्री लक्ष्मीकांत शर्मा पर आरूढ़ महर्षि व्यास ने भी व्यासों की परम्परा का उल्लेख करते हुए अपने कृतित्व के उन सूत्रों को प्रस्तुत किया जिनसे तत्कालीन भारतीय संस्कृति की जीवन-झाँकी मिली।

राजकुमार कालेज के प्राध्यापक श्री सुधाकर गोलवलकर ने ज्ञानेश्वर की आत्मा को धारण किया था। उन्होंने कहा कि उनके माध्यम से गीता का पुनीत सन्देश महाराष्ट्र में जन-जन व्यापी बना है।

गोस्वामी तुलसीदास विज्ञान महाविद्यालय के प्राध्यापक डा. गंगाप्रसाद गुप्त पर अवतरित हुए थे उन्होंने अपने कृतित्व की सूक्ष्मता का वर्णन करते हुए अपने जीवन के विवादास्पद पक्षों को स्पष्ट किया।

अत्यन्त ओजपूर्ण अलकारिक भाषा में महिला महाविद्यालय की प्राध्यापिका श्रीमती माया अरोरा पर आरूढ़ मीराबाई की आत्मा ने सरल ढंग से अपनी जीवनपद्धति और साधनाप्रणाली का परिचय दिया।

सस्कृत महाविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डा. नरेन्द्रदेव वर्मा पर कबीर की आत्मा अवतरित हुई थी जिसने अपनी विशिष्ट सधुक्खड़ी भाषा में अपने समाज का वर्णन किया और बताया कि किस प्रकार उन्होंने भारतीय सामासिकता की प्रक्रिया को बनाये रखने के लिए हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए प्रयास किया था तथा अन्तर्मुखी साधना पर बल दिया था।

दुर्गा महाविद्यालय के प्राध्यापक श्री बालचन्द कछवाहा पर सूरदास की आत्मा अवतरित नहीं हो पायी और उन पर एक भूत सवार हो गया जिसने सूरदास की विशेषताओं को स्पष्ट करने के स्थान पर अन्य कवि-आत्माओं के प्रति अपने ईर्ष्या-द्वेष का प्रदर्शन किया।

दुर्गा महाविद्यालय के प्राध्यापक श्री गुणवन्त व्यास पर आरूढ़ नरसी मेहता ने बताया कि वे घेला भगत हैं तथा उनका काव्य उनकी जीवन-चर्या का ही वर्णन है।

श्री रमेश नैयर पर गुरु नानक अवतरित हुए थे जिन्होंने अपने समय और आधुनिक काल की परिस्थितियों का तुलनात्मक विवेचन करते हुए अपने कृतित्व का परिचय दिया।

डा. कन्हैयालाल वर्मा पर आरूढ़ रसखान की आत्मा ने तत्कालीन मुस्लिम समाज की भावनाओं का विवेचन करते हुए बताया कि हिन्दू और मुस्लिम भक्ति-पद्धति बहुत कुछ समान हैं तथा यह भी कि किस प्रकार वे कृष्ण भक्ति की ओर आकृष्ट हुए।

खरौद महाविद्यालय के प्राध्यापक श्री व्ही. पार्थसारथी पर तेलुगु रामायण-कवि पोतन्ना की आत्मा अवतरित हुई जिसने बताया कि रामचरित्र को उन्होंने किस दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया।

डा. अरुणकुमार सेन पर आरूढ़ बंगाल के प्रसिद्ध भक्त-कवि रामप्रसाद की आत्मा ने अपने भक्तिमय जीवन का परिचय दिया और कतिपय भक्तिपदों का गायन कर वातावरण को सरस बना दिया।

इस सभा के अध्यक्ष देवर्षि नारद स्वामी आत्मानन्द पर अवतरित हुए थे। उन्होंने मार्मिक स्वर में अपने जीवन का निरूपण करते हुए बताया कि किस प्रकार वे स्थान स्थान पर विचरण करते हुए अहर्निश भगवत्प्रेम की सरिता बहाते हैं। 'जिन घटनाओं के कारण नारद को कलहप्रिय कहा जाता है उन प्रमुख घटनाओं की चर्चा देवर्षि ने अपने वक्तव्य में की और तर्क द्वारा यह प्रमाणित कर दिया कि वे कलहप्रिय नहीं बल्कि कल्याणप्रिय हैं और वे आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्त सबका मंगल ही चाहते हैं।

अन्त में, देवर्षि नारद ने समागत कवि-आत्माओं को भूरि-भूरि धन्यवाद दिया और ऐन्द्रजालिक रूप से सबको अपने-अपने स्थान के लिए बिदा किया। तदनन्दर वे स्वयं भी स्वधाम वापस चले गये और सभा का कार्यक्रम समाप्त हुआ।

१४ से लेकर २० जनवरी तक भारतप्रसिद्ध रामायणी पण्डित रामकिंकर जी महाराज का रामायण पर अपूर्व प्रवचन हुआ।

२१ से २५ जनवरी तक प्रसिद्ध सन्त श्री विरागीजी महाराज के चुटीले और ओजस्वी प्रवचन और कीर्तन हुए।

२६ जनवरी की भोर श्री विरागीजी महाराज के नेतृत्व में

नगर संकीर्तन का भव्य कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। उच्च स्वर में संकीर्तन करते हुए जब विरागीजी की टोली नगर के प्रमुख मार्गों से गुजरी तो हजारों की संख्या में आबाल-वृद्ध-वनिता उनके साथ हो लिए और संकीर्तन में सहभागी हो गए। चार घंटे की परिक्रमा के बाद यह टोली आश्रम लौटी।

जयन्ती समारोह का अन्तिम कार्यक्रम २६ जनवरी की सन्ध्या "सर्व धर्म सम्मेलन" था, जब स्वामी आत्मानन्द की अध्यक्षता में प्रा. कुमारी अर्चना बोस ने बौद्ध धर्म पर, रेवरेण्ड दत्ता ने ईसाई धर्म पर, श्रीमती पंधेर ने सिख धर्म पर, प्रा. शमसुद्दीन ने इसलाम धर्म पर, डा. अशोक कुमार बोरदिया ने जैन धर्म पर, प्रा. कनक कुमार तिवारी ने यहूदी धर्म पर, और प्रा. देवेन्द्रकुमार वर्मा ने हिन्दू धर्म पर प्रकाश डाला।

इस सम्मेलन के प्रमुख अतिथि श्री विरागीजी महाराज ने अपने प्रवचन में कहा कि हिन्दू धर्म ही एक ऐसा धर्म है जिनका अन्य धर्मों से कोई विरोध नहीं है और जो सभी धर्मों की विशिष्टताओं को आत्मसात् कर सकता है।

स्वामी आत्मानन्द ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि मानव-व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए सभी धर्मों के प्रमुख तत्वों को ग्रहण करना होगा। उन्होंने कहा कि हमें हिन्दू धर्म से 'दर्शन', इस्लाम से 'बंधुत्व', सिख पन्थ से 'शौर्य', जैन धर्म से 'अहिंसा', यहूदी धर्म से 'राष्ट्र प्रेम', ईसाई धर्म से 'सेवा' तथा बौद्ध धर्म से 'वैराग्य' का भाव लेना पड़ेगा। इस सबके सम्मिलन से मानवता समृद्ध होगी और धर्मों के एवंविध पारस्परिक सहयोग से अशान्ति के बीज दग्ध होंगें।

दीर्घकाल व्यापी इस जयन्ती समारोह में प्रतिदिन श्रोताओं की औसत उपस्थिति ५ से ६ हजार तक रहती थी।

स्वामी आत्मानन्द के अन्यत्र कार्यक्रम

१ दिसम्बर को स्वामी आत्मानन्द ने भिलाई में श्री रामकृष्ण सेवा मण्डल के तत्वावधान में संचालित 'विवेकानन्द अध्ययन वर्ग' का उद्घाटन किया और 'युगद्रष्टा स्वामी विवेकानन्द' पर भाषणमाला प्रारम्भ की। २ दिसम्बर को रायपुर के नगर निगम द्वारा संचालित गंज कन्या शाला का नाम बदलकर 'भगिनी निवेदिता कन्या उच्चतर माध्यमिक विद्यालय' रखा गया। इस निमित्त हुए समारोह में स्वामी आत्मानन्द ने प्रमुख अतिथि के रूप से भगिनी निवेदिता के प्रेरणामय जीवन और कार्यों की चर्चा की। ६ दिसम्बर को शासकीय स्तर पर 'संग्रहालय सप्ताह' मनाया गया। रायपुर के स्व. घासीदाम स्मारक संग्रहालय ने इस अवसर पर एक परिसंवाद का आयोजन किया जिसमें स्वामीजी 'कृष्णचरित्र का वर्तमान सन्दर्भ' पर बोले। अपने वक्तव्य में उन्होंने आज की दृष्टि से कृष्ण चरित्र का मूल्यांकन किया और बताया कि वस्तुतः आज भी हमें कृष्ण-चरित्र की जितनी आवश्यकता हो गयी है, उतनी कभी नहीं हुई थी।

१३ दिसम्बर को रायपुर के औद्योगिक संस्थान में तथा १४ दिसम्बर को नेवरा में विवेकानन्द शिला स्मारक के निमित्त हुए कार्यक्रम में स्वामीजी बोले।

१ जनवरी को बिलासपुर में श्री जगदीशचन्द्र ऋषि के सुपुत्र चि. रवीन्द्र के जन्मदिवस के उपलक्ष में समागत प्रतिष्ठित सज्जनों को स्वामीजी ने 'मानव जीवन का प्रयोजन' विषय पर सम्बोधित किया। तदुपरान्त उसी रात्रि श्री कृष्ण कुमार द्विवेदी के निवास पर 'कल्पतरु दिवस' के उपलक्ष में आयोजित सभा को भगवान् श्रीरामकृष्ण के 'कल्पतरु' होने की घटना से अवगत कराया।

४ जनवरी को दुर्ग जिले की विवेकानन्द शिला स्मारक समिति ने श्री एकनाथ रानडे को जिले से एकत्र राशि भिलाई में आयोजित विशाल जनसभा के बीच समर्पित की। भिलाई इस्पात कारखाना के जनरल मैनेजर श्री जगत्पति ने इस कार्यक्रम की अध्यक्षता की। स्वामी आत्मानन्द इस कार्यक्रम के लिए विशेष रूप से उपस्थित थे।

तदुपरान्त उसी दिन सन्ध्या विवेकानन्द अध्ययन वर्ग, भिलाई के अन्तर्गत स्वामीजी ने अपना दूसरा व्याख्यान दिया।

१५ जनवरी को उन्होंने दुर्गा महाविद्यालय के दर्शन विभाग द्वारा आयोजित भाषण माला का उद्घाटन करते हुए 'दर्शन का प्रयोजन' विषय पर प्रेरणाप्रद व्याख्यान दिया।

२ फरवरी को विवेकानन्द अध्ययन वर्ग, भिलाई के अन्तर्गत तीसरा व्याख्यान दिया।

६ और ७ फरवरी को विवेकानन्द ज्ञान-मंडल, बैतूल द्वारा आयोजित द्विदिवसीय वेदान्त सम्मेलन की स्वामीजी ने अध्यक्षता की और क्रमशः वेदान्त के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों पर विवेचनात्मक प्रकाश डाला। ७ फरवरी को अपराह्न उन्होंने महिला सम्मेलन को भी उद्बोधित किया।

११ फरवरी को टोंहड़ा ग्राम में 'लक्ष्मण आश्रम' के शिलान्यास के अवसर पर स्वामीजी ने छत्तीसगढ़ी भाषा में 'आश्रम की महत्ता और उपयोगिता' पर प्रकाश डाला। श्रीमान् महन्त लक्ष्मीनारायण दास जी ने आश्रम का शिलान्यास किया।

१६ फरवरी को भरदा ग्राम में (दुर्ग जिला) दिल्लीवार कुर्मी समाज का अधिवेशन हुआ। स्वामीजी ने इस अधिवेशन में 'मानवजीवन का प्रयोजन और समाज' इस विषय पर अत्यन्त तर्कसंगत और प्रभावी भाषण दिया जिसमें उन्होंने बताया कि मानवजीवन का प्रयोजन क्या है और उस प्रयोजन की सिद्धि में

समाज का क्या क्या रोल हो सकता है।

१८ फरवरी को स्वामीजी इलाहाबाद में थे। उस दिन भगवान् श्रीरामकृष्ण देव की जन्मतिथि थी। वहाँ रामकृष्ण मिशन आश्रम में उन्होंने समवेत भक्तों को 'रामकृष्ण-अवतार की नवीनता' पर सम्बोधित किया।

१९, २०, २१ फरवरी ये तीन दिन उन्होंने छपरा में श्री विरागीजी महाराज के नेतृत्व में आयोजित विशाल जनसभा के समक्ष 'मानवजीवन का प्रयोजन' इस विषय पर तीन व्याख्यान दिये।

२३ फरवरी को भिलाई के श्रीरामकृष्ण सेवा मण्डल द्वारा आयोजित 'श्रीरामकृष्ण जयन्ती महोत्सव' की स्वामीजी ने अध्यक्षता की और भगवान् श्रीरामकृष्ण के जीवन की अपूर्वता पर प्रकाश डाला। इस अवसर पर डा. अशोक कुमार बोरदिया ने श्री माँ सारदा के अलौकिक मातृभाव पर तथा डा. नरेन्द्र देव वर्मा ने स्वामी विवेकानन्द पर, उनकी तुलना ब्रह्मचर्य और सेवाव्रत के मूर्तमन्त विग्रह श्री हनुमान से करते हुए, प्रेरक व्याख्यान दिये।

●

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्सयमो
ज्ञानस्योपशमः कुलस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः।
अक्रोधस्तपसः क्षमा बलवतां धर्मस्य निर्व्याजता
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम्॥

—भर्तृहरि

ऐश्वर्य का भूषण सज्जनता, शूरता का मित भाषण, ज्ञान का शांति, कुल का भूषण विनय, धन का उचित व्यय, तप का अक्रोध, समर्थ का क्षमा और धर्म का भूषण निश्छलता है। यह तो सबका पृथक् पृथक् हुआ, परन्तु सबसे बढ़कर सबका भूषण शील है।

आश्रम की नवीन योजनाएँ

स्वामी आत्मानन्द ने अपने ११ जनवरी के प्रतिवेदन-पाठ में आश्रम की नयी योजनाएँ भी श्रोताओं के सम्मुख रखीं। उन्होंने आश्रम की तात्कालिक आवश्यकताएँ निम्नलिखित रूप से रखीं :——

(१) मन्दिर और उपासना-गृह—
अनुमानित लागत, सवा लाख रुपये।

(२) विवेकानन्द सभागृह—
अनुमानित लागत, एक लाख रुपये।

(३) व्यायामशाला और अखाड़ा—
अनुमानित लागत, पच्चीस हजार रुपये।

स्वामी आत्मानन्द ने दानदाताओं को मुक्तहस्त से दान देने की अपील की। उन्होंने बताया कि "सभा-भवन"— निर्माण का कार्य सर्वप्रथम हाथ में लिया जायेगा और ईश्वर को मंजूर हुआ तो आगामी गणेश-चतुर्थी के पावन पर्व पर उसका उद्घाटन किया जायेगा।

उपस्थित जनसमूह ने स्वामीजी की अपील पर सभास्थल में ही ७४०००) से भी अधिक राशि के दान देने की घोषणा कर दी। इस घोषित राशि में से लगभग २३॥ हजार रुपये प्राप्त भी हो चुके हैं। स्थानाभाव के कारण हम नीचे ५०१) तक का दान देने वाले सज्जनों की सूची प्रकाशित कर रहे हैं।

५१११) श्री बेनीराम जी हनुमन्ता एवं श्रीमती सुस्मृति बाई,
ग्राम—सगुनी, जि. रायपुर।

५००१ श्रीमान् महन्त लक्ष्मीनारायण दास जी, रायपुर

५००१) श्री कान्हजी भाई राठौर, हिम्मत स्टील फाउंड्री, रायपुर

५००१) श्री किशनलाल जी सिंघानिया, रायपुर

५००१) श्रीमती शान्तिदेवी पत्नी डा. इन्द्रजीत सिंह उर्फ लाल साहब, अकलतरा (बिलासपुर)

५००१) दाऊ तुंगनरामजी चन्द्राकार, औंधी और बरौदावाले आदि भाइयों ने मिलकर अपनी पू. माता के नाम पर।
५००१) सौ. भाग्यवती धनीराम वर्मा, रायपुर के नाम पर उनके पुत्रों द्वारा।
५००१) श्री जगदीशचन्द्र जी ऋषि, बिलासपुर
३२०१) दाऊ लखनलाल जी चन्द्राकर, रिसामा (दुर्ग)
२५००) श्री नारायणभाई दामजी पिथालिया, आर. एम. ई. वर्कशाप, रायपुर
२५००) स्व. दाऊ घासीरामजी चन्द्राकर, ग्राम नारा (रायपुर) के नाम पर दाऊ रामलाल चन्द्राकर आदि उनके पुत्रों द्वारा
२५००) दाऊ श्यामकिशोर जी अग्रवाल, पुरानी बस्ती, रायपुर
२५००) श्री लक्ष्मण प्रसाद जी वर्मा, ग्राम औंधी (दुर्ग)
२५००) श्री बालाराम जी वर्मा, काश्तकार, ग्राम नारा (रायपुर) के नाम पर उनके पुत्रों द्वारा
२५००) स्व. दुर्गाबाई के स्मृति में उनके पुत्रों द्वारा
२५००) स्व. दाऊ उदेलाल जी चन्द्राकर, ग्राम कुकदा (दुर्ग) के नाम पर उनके पुत्रों द्वारा
१९११) सौ. सुधा नायक, पुत्री श्री रामचन्द देशमुख, ग्राम बघेरा (दुर्ग)
११०१) दाऊ दालारामजी चन्द्राकर, ग्राम कोनारी (दुर्ग)
१००१) श्री धनीराम वर्मा, श्रीराम स्टोर्स, रायपुर
१००१) श्री वा. न. मोकासदार, अधिवक्ता, रायपुर
१००१) डॉ. एम. आर. भागवत, रायपुर
१००१) श्री हजारीलाल जी वर्मा, सत्तीबाजार, रायपुर
१००१) डॉ. वा. वा. पाटणकर, स्टेशन रोड, दुर्ग
१०००) डॉ. एन. एल. बोरदिया, नई दिल्ली
५०१) श्री छबिरामजी चन्द्राकर, ग्रा. खम्हरिया (महासमुन्द)

५०१) डॉ. बी. सी. गुप्ता, होमियोपैथ, बूढ़ापारा, रायपुर
५०१) श्री भानुप्रताप जी चन्द्राकर, ग्राम चिरपोरी (दुर्ग)
१२०१)२५ विभिन्न व्यक्तियों से प्रकट दान।
२३३६)७५ गुप्त दान

कुल ७४०७७)

बननेवाले मन्दिर एवं सभाभवन के चित्र एवं नक्शे इस अंक में प्रकाशित किये जा रहे हैं। जिन लोगों को उपर्युक्त कार्यों में सहयोग देने की इच्छा हो वे अपनी अपनी सामर्थ्य के अनुसार दान को राशि चेक या धनादेश द्वारा 'सचिव, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)' के पते पर भेज सकते हैं।

सभागृह का कार्य प्रारम्भ भी हो गया है और १५ मार्च को दरवाजे और खिड़कियों की ऊँचाई तक (यानी ८॥ फुट ऊँचा) जोड़ाई का काम पहुँच गया।

विवेक-ज्योति के ग्राहकों को विशेष सूचना

हमें यह सूचित करते हुए प्रसन्नता हो रही है कि विवेक-ज्योति के ग्राहकों को रामकृष्ण मिशन के अधिकाँश प्रकाशनों में विशेष छूट मिलेगी। आजीवन सदस्यों को इन पुस्तकों की खरीदी में १० प्रतिशत एवं वार्षिक सदस्यों को ५ प्रतिशत की छूट दी जायेगी। इन पुस्तकों को मँगाते समय अपनी सदस्यता-क्रमांक अवश्य लिखें।

स्वामी प्रणवानन्द
व्यवस्थापक,
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
(प्रकाशन विभाग) रायपुर म. प्र.

रामकृष्ण मिशन क्षय आरोग्यधाम

पो. रामकृष्ण सैनेटोरियम, रांची (बिहार)

प्रतिवेदन और निवेदन

रामकृष्ण मिशन क्षय आरोग्यधाम का प्रारम्भ सन् १९५१ में हुआ था तथा इसमें ३२ शय्याएँ थीं। अब यह २५० शय्याओं से युक्त पूर्ण सक्षम आरोग्यधाम के रूप में विकसित हो गया है जहाँ क्षय रोगियों के निदान और चिकित्सा की सभी आवश्यक सुविधाएँ हैं और प्रमुख शल्य-क्रियाएँ भी सम्पादित की जाती हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ रोगमुक्त व्यक्तियों के लिए पुनर्वास केन्द्र भी है जहाँ उन्हें लेबोरेटरी, एक्स-रे विभाग, नर्सिंग, स्टोर, कार्यालय, बिजली घर, नलघर, मुर्गीपालन और सिलाई का प्रशिक्षण दिया जाता है।

सन् १९६७-६८ में यहाँ ५७८ व्यक्तियों की चिकित्सा की गई थी तथा ८६ रोगियों की चिकित्सा पूर्णतः निःशुल्क और १४ रोगियों की चिकित्सा छूट-दर में की गई थी। विभिन्न स्रोतों से प्राप्त दान और आर्थिक सहायता से इस कार्य को पूरा किया गया था। इसके अतिरिक्त आउट डोर विभाग के द्वारा ५०५ क्षय रोगियों व ९१७ अन्य रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा व निदान भी किया गया था और ३५ रोगमुक्त व्यक्तियों को प्रशिक्षित कर नौकरी दी गई थी।

सन् १९६७-६८ में आरोग्यधाम की कुल आय ७,५२,१७३ रुपये ८६ पैसे थी पर व्यय ८,७६,३३४ रुपये ३१ पैसे था। इस प्रकार १,२१,१६० रुपये ४५ पैसे का घाटा हुआ है। अतः इस आरोग्यधाम को निराशाजनक वित्तीय स्थिति से उबारने का कार्य उदारमना दानी व्यक्ति ही कर सकते हैं। हमें आशा है कि दानवीरों के सहयोग से यह संस्था अनवरत रूप से दरिद्र व असहाय रोगियों की सेवा करती रहेगी।

आपका उदार दान धनादेश अथवा अन्य किसी विधि से सेक्रेटरी, रामकृष्ण मिशन क्षय आरोग्यधाम, पो. रामकृष्ण सैनेटोरियम, राँची (बिहार) को भेजा जा सकता है।

प्रस्तावित विवेकानन्द सभागृह जैसा बनने पर दिखेगा

ROOM
12'0"X16'0"
ROOM
VERANDAH 9'4½" WIDE CLEAR
DOME OVER SHRINE
PRAYER HALL 50'0"X30'0"
VERANDAH 9'4½" WIDE CLEAR
ROOM
12'0"X16'0
STAIRCASE
VERANDAH 9'4½" WIDE

[illegible] मंदि[illegible] नक्शा

प्रस्तावित मंदिर जैसा बनने पर दिखेगा

Registered with the Registrar of News papers
for India under No. RN 7764/63.
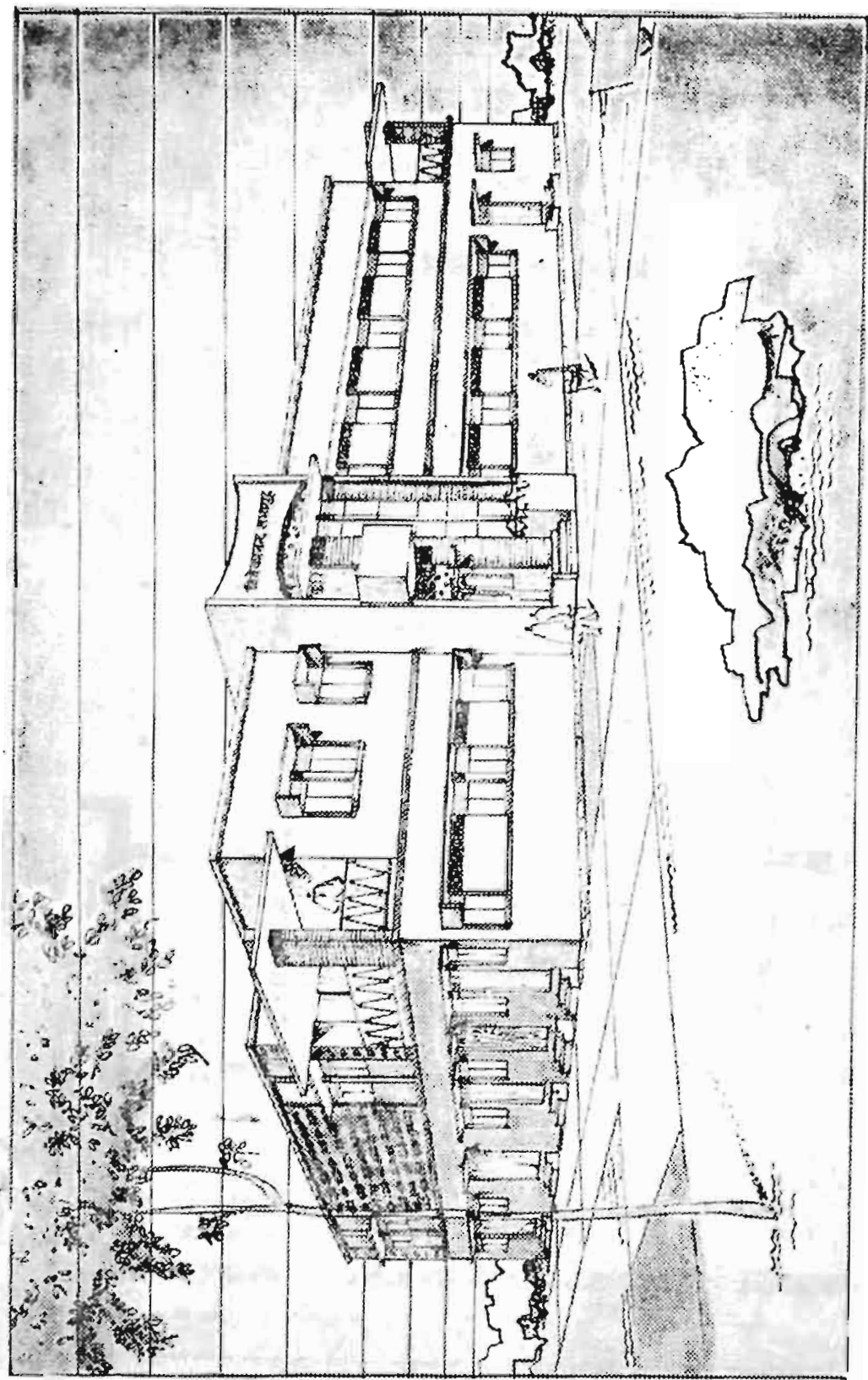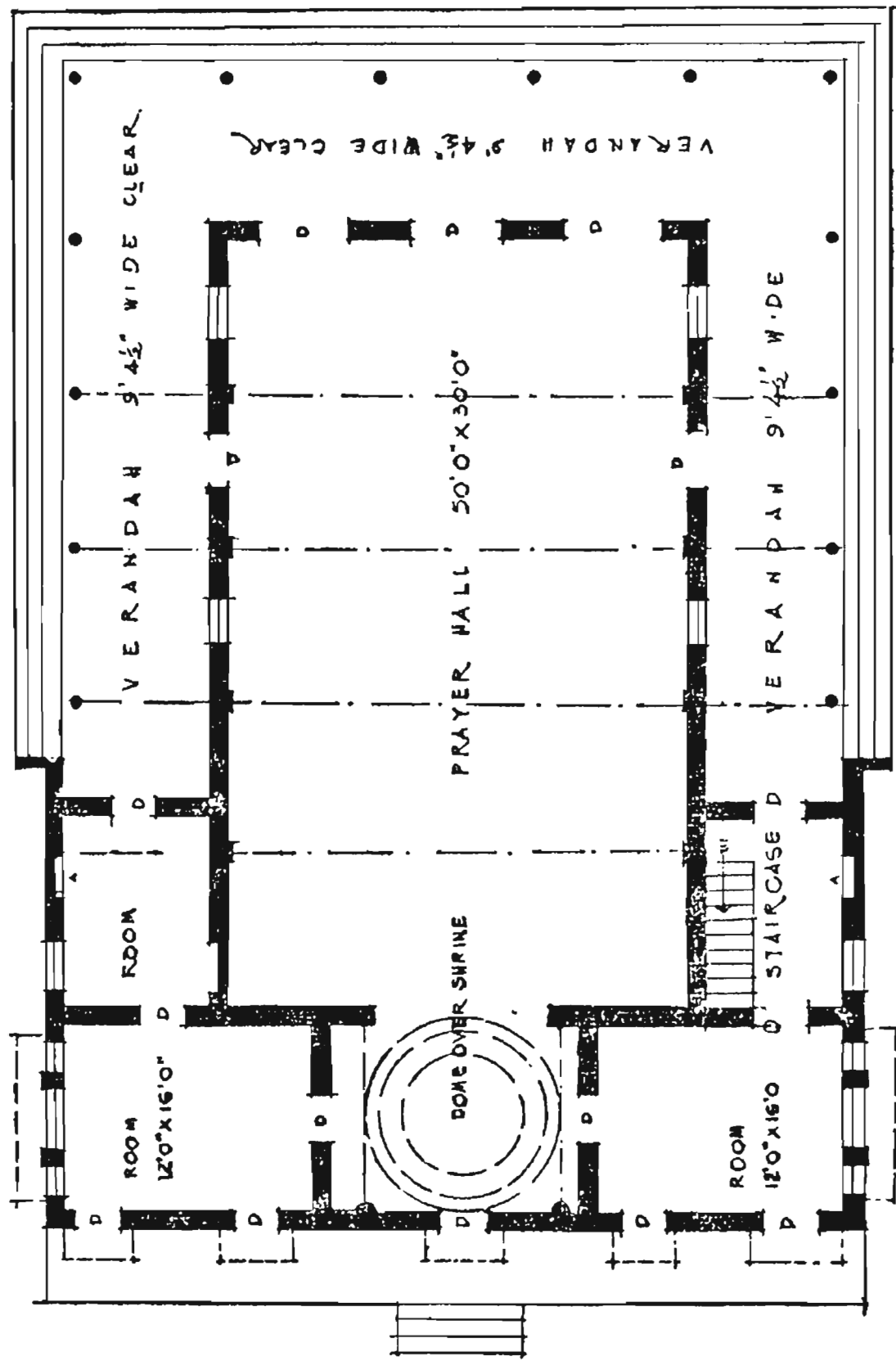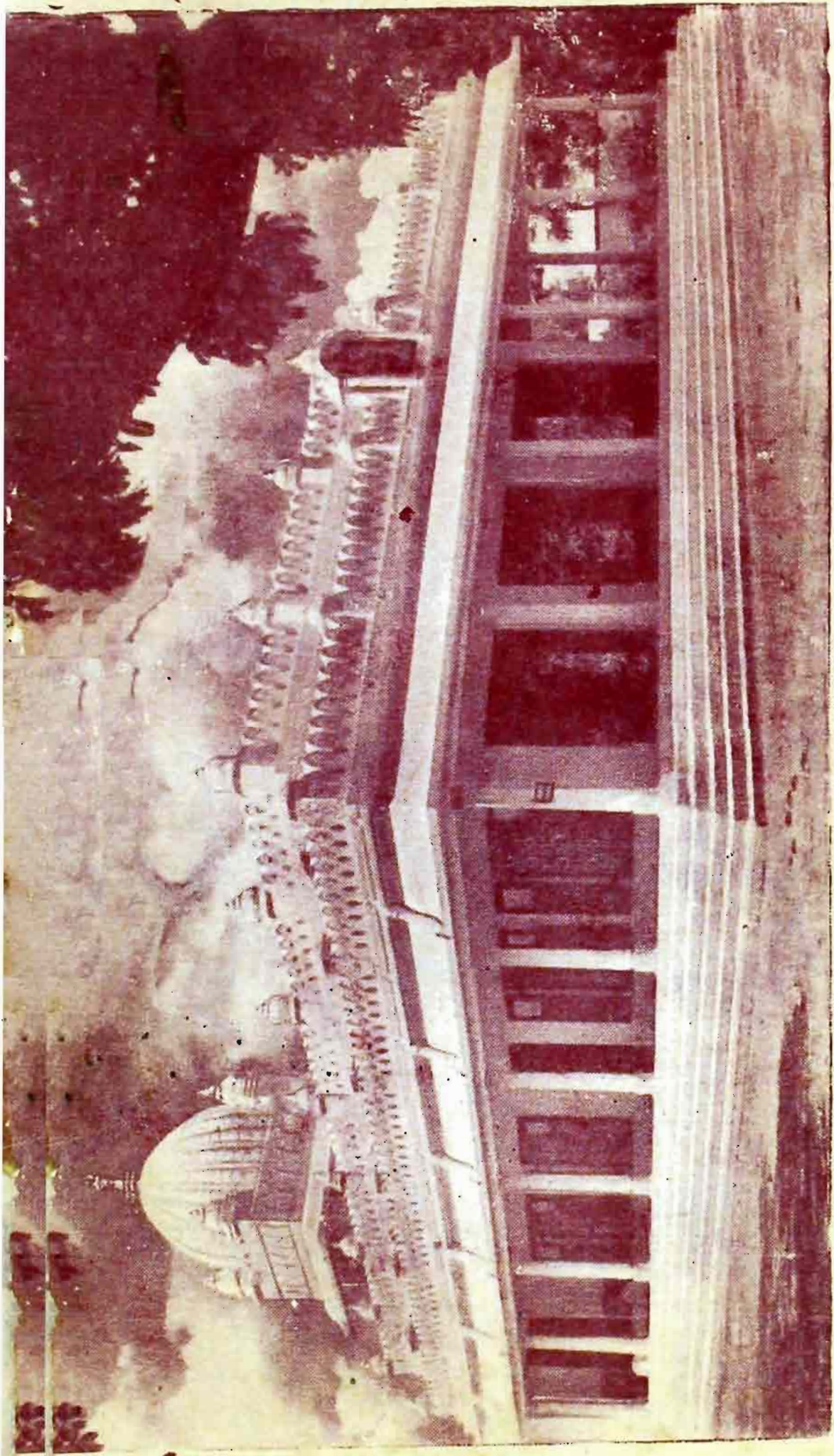
श्रीरामकृष्ण उवाच

विचार के पथ से भी ईश्वर को पाया जा सकता है। इसी को ज्ञानयोग कहते हैं। विचारपथ बड़ा कठिन है। ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या, यह ठीक ठीक अनुभव होने पर मन का लय होता है, समाधि होती है। परन्तु कलियुग में जीव के प्राण अन्नगत हैं। अतः 'ब्रह्म सत्य और जगत् मिथ्या' यह बोध कैसे होगा? देहबुद्धि के रहते यह बोध सम्भव नहीं है। 'मैं देह नहीं हूँ, मन नहीं हूँ, चौबीस तत्त्व नहीं हूँ, मैं सुख-दुःख के अतीत हूँ। रोग, शोक, जरा, मृत्यु मेरे कैसे हो सकते हैं?'—इस प्रकार का बोध कलियुग में होना कठिन है। चाहे जितना विचार करो, पर कहीं से देहात्म-बुद्धि आ खड़ी होती है। पीपल की पौद को भले काट डालो और सोचो कि वह जड़ से अब नष्ट हो गयी, किन्तु दूसरे दिन सुबह देखो तो फिर से उसमें नई डंठल उग आती है! देहाभिमान भी इसी प्रकार नहीं जाता। इसीलिए कलिकाल में भक्तियोग अच्छा है; वह सहज है।

फिर एक बात है। 'मैं चीनी होना नहीं चाहता, चीनी खाना चाहता हूँ'। मेरी कभी इच्छा नहीं होती कि कहूँ—'मैं ब्रह्म हूँ'। मैं तो कहता हूँ—'तुम भगवान् हो, मैं तुम्हारा दास हूँ'। मन की पाँचवीं और छठी भूमियों के बीच दौड़ अच्छी है। छठी को पार करके सप्तम भूमि में अधिक देर रहने की मुझे इच्छा नहीं होती। मेरी तो यही इच्छा है कि उनके नाम का गुणगान करूँ। सेव्य-सेवक भाव बहुत अच्छा है। 'मैं ही वही हूँ' यह अभिमान अच्छा नहीं। देहात्म-बुद्धि के रहते जो इस प्रकार का अभिमान करता है, उसकी विशेष हानि होती है। वह आगे नहीं बढ़ पाता और धीरे धीरे उसका अधःपतन हो जाता है। वह दूसरों को ठगता है और खुद को भी।

— १४ दिसम्बर, १८८२